प्रथम संस्करण १९८३

प्रकाशक :
श्री देवेन्द्रराज मेहता
सचिव, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता
जयपुर ३
एवं
श्री दिलीप सिंह नाहटा
सचिव, जैन भवन
पी २५ कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता-७

मुद्रक :
श्री भागचन्द सुराना
सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स
२०५ रवीन्द्र सरणी
कलकत्ता-७

आवरण पृष्ठ :
श्री विभूति सेनगुप्त
मूल्य १० ००
Candan Murti/Ganesh Lalwani/Jaipur-Calcutta/1983

प्रकाशकीय

श्री गणेश ललवानी जैन वाङ्मय के जाने माने साधक हैं। आपके सृजनात्मक साहित्य की विशिष्टता यह है कि जीवन के विभिन्न भावो को विभिन्न स्वरों में उपस्थित करते हुए उसे असीम के साथ इस प्रकार जोड देते हैं जहाँ आकर सारी जिज्ञासाएँ एक बारगी ही शान्त हो जाती है, तृप्त हो जाती हैं। गरल अमृत हो जाता है। खण्ड अखण्ड की ज्योति से उद्द्योतित हो जाता है। आपकी उपन्यास धर्मी कृति "चन्दन मूर्त्ति" उसी का एक प्रकृष्ट उदाहरण है।

शास्त्रों में भगवान महावीर की चन्दन मूर्त्ति का जो कथानक आता है उसी को आधार बनाकर लेखक ने जिन नौ भवों का निर्माण किया है वह जीवन के आरोह-अवरोह को उपस्थित करते हुए भी उसे राग और विराग के पार ले जाती है। प्रवाहमयी भाषा में वर्णन इतना सजीव है कि उसे सत्य मानने को मन स्वतः प्रस्तुत हो जाता है और हम देश काल क्षेत्र को भूलकर उसी में तल्लीन हो जाते हैं। माधुर्य भरी सरल ओजमयी भाषा के साथ इतिहास का रहस्य मिल जाने से यह कृति और भी असामान्य हो गई है।

जब यह चन्दन मूर्त्ति बंगला 'श्रमण' मासिक में प्रकाशित होती थी तो बंगला के भावुक पाठक परवर्ती उच्छ्वास के लिए प्रतीक्षा रत रहते। बाद में वह श्रीमती राजकुमारी बेगानी द्वारा अनुदित होकर 'कथालोक' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई थी।

अब यह कृति श्री ललवानी जी की ६०वी वर्षगाँठ पर राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर तथा जैन भवन, कलकत्ता के संयुक्त तत्वावधान में प्रकाशित की जा रही है।

दिलीप सिंह नाहटा
सचिव
जैन भवन कलकत्ता

देवेन्द्रराज मेहता
सचिव
राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान
जयपुर

प्रथम उच्छ्वास

मुझे जाति-स्मरण ज्ञान है।

यह वाक्य अहकारपूर्ण लगने पर भी मुझे इस ज्ञान का जरा भी अहकार नही है। होगा भी क्यो? पूर्व स्मृति तो हम सभी को होती है। तो क्या उसके लिए कभी अहंकार करते हैं? तव मैं क्यो जाति-स्मरण ज्ञान के लिए अहकार करूँगा?

किस प्रकार जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त किया यह मैं नही कह सकता। फिर भी उस दिन की वात मुझे अच्छी तरह याद है। नीमच के लिए धूँधिया से एक लम्वा रास्ता तय करता आ रहा था। पथ था कंकर एव वालूमय। आसपास में न कही लोकालय था, न ही कोई आश्रय। इतनी दूरी तय कर आने पर भी गुल्मजातीय छोटे-छोटे पौधे और विरल खजूर के अतिरिक्त कुछ दृष्टिगोचर नही हुआ था। दोनो पाँवो ने जवाव दे दिया, फिर भी चल रहा था। किन्तु, जव एकदम ही थककर चूर हो गया तो एक खजूर-वृक्ष के तले जा वैठा। वैठा-वैठा कव सो गया कुछ याद ही नहीं है। कितनी देर तक सोया यह भी कहाँ याद है। सहसा नींद टूटने पर देखा कोई अपने कोमल हाथो से मुझे हिला रहा है और कह रहा है—"दत्त! उठो, उठो।"

मैं हडवडा कर उठ वैठा। इस विजन अपरिचित देश मे मुझे कौन

पुकारेगा ? नही, यह मेरी भूल है। यह देश न ,विजन है, न अपरिचित। यह है सिन्धु-सौवीर की राजधानी वीतभय। मै राजप्रासाद से संलग्न जिनालय की कुट्टिम भूमि पर उठ बैठा हूँ। और जिसका कोमल हाथ मुझे हिला रहा था उसे भी जानता हूँ। उसका नाम है देवदत्ता। देवदत्ता कह रही थी—"दत्त। असमय में कैसे सो गये ?"

मोने का भी कोई समय होता है ? जव नीद आये तभी मोने का समय है, पर यह वात उसे नही कह मका। केवल वोला—"हाँ।" मैं देवदत्ता के मुख की ओर देख रहा था। और यह सोच रहा था—विगत कई शताब्दियो का व्यवधान भी उसकी मुखश्री को जरा भी म्लान न कर सका।

अव यहाँ मैं अपना परिचय दे दूँ। मेरा नाम है देवदत्त। सिन्धु-सौवीराधिपति के राजप्रासाद में मै माला, चन्दन आदि की व्यवस्था करता हूँ। केवल अन्तःपुर या राजवंशीय व्यक्तियों के लिए ही नहीं। राजप्रासाद सलग्न जिनालय में भगवान महावीर की जो चन्दन-काष्ठ निर्मित प्रतिमा अधिष्ठित हुई है उसके लिए भी। उन दिनों इस प्रतिमा का खूव नाम था। क्योंकि महावीर के समकाल में मात्र इस एक चंदन प्रतिमा के अतिरिक्त अन्य कोई प्रतिमा निर्मित नहीं हुई थी। कुछ भूल हुई—एक और निर्मित हुई थी लेकिन इसके वहुत वाद ; इसी की नकल। वह सव वाद में वताऊँगा।

चन्दन-काष्ठ की वह प्रतिमा मुझे अच्छी लगती, फिर भी देवदत्ता के मुख की भाँति नही। न जाने उसमे ऐसा क्या था कि उसको देखते ही मैं अपने को भूल जाता। उसके मुख से किसी भी प्रकार मै अपनी दृष्टि नही हटा सकता था। आज भी नही हटा सका।

देवदत्ता राजप्रासाद की एक दासी थी। इसी जिनालय में अवस्थान कर वह पुरोहित की सहायता किया करती थी। और मै ? मै इस जिनालय मे नित्य फूल लेकर आता। देवदत्ता मेरे हाथो से फूल चन्दनादि ग्रहण करती।

देवदत्ता और मेरे नाम का साम्य भी, लग रहा है आकस्मिक नही है। हम लोगो का सम्पर्क जन्म जन्मान्तरो का है। मै उसके पूर्व-पूर्व जन्मो को देख भी रहा हूँ। विनीता मे उसने क्षत्रिय सुदास के घर सुप्रिया के रूप में जन्म ग्रहण किया था, अहिच्छत्रा में नन्दिनी-पिता के घर नन्दिनी रूप में; पर बीच में ही देवदत्ता सहसा बोल उठी—"दत्त! इस प्रकार तुम क्या देख रहे हो?"

देवदत्ता के कण्ठस्वर का माधुर्य आज भी उसी प्रकार था। वह माधुर्य न जाने मुझे कैसा द्रवित-सा कर देता। शायद कोई मुरजध्वनि भी इतनी मीठी नही होती।

बोला—"तुम्हे।"

"मुझे? मुझमें इतना देखने को क्या है?"

"वह तुम किसी दिन भी नही समझ सकोगी। कारण तुम मेरी आँखो मे नित्य नवीन हो। पद्मकोरक जिस भाँति क्षण-प्रतिक्षण प्रस्फुटित होता रहता है, तुम भी उसी प्रकार नित्य प्रस्फुटित होती रहती हो।"

देवदत्ता ने इसका कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। देखा, उसके कपोल और अधरों पर जैसे अबीर का रंग चढ गया था। पर उसी मुहूर्त्त में उसने स्वयं को संयत कर लिया। बोली—"दत्त! तुम्हे इसलिए पुकार

रही थी कि वैताढ्य से एक अतिथि आए है। आते ही अस्वस्थ हो गए। उनके लिए वैद्यराज को बुलाना होगा।"

देवदत्ता कुछ भी कहती मैं कर देता। असुविधा होने पर भी करता। क्योंकि उसका काम करने में आनन्द आता था। अतः न करने का कारण ही नही था। शीघ्रता से उठकर वैद्यराज को बुलाने गया। किन्तु, जाते-जाते भी अच्छी तरह अनुभव किया उसकी दृष्टि मेरी पीठ पर निबद्ध थी। समुद्र गभीर और नीला है। पर देवदत्ता की दृष्टि और अधिक गभीर व और अधिक सुनील है।

देवदत्ता देखने में खूब सुन्दर थी ऐसा नही था। सामान्य दासी मात्र ही तो थी। धूत के मुख से मैने सुन्दर नारी की रूपवर्णना सुनी है। प्रवाल की भाँति ओष्ठ, मुक्ता की भाँति दन्तपंक्ति, मृणाल-से भुजद्वय और वैदूर्यमणि की भाँति नखदीप्ति। नही, देवदत्ता में यह सब कुछ नही था। फिर भी मै यह कहे बिना नही रह सकता—पृथ्वी के समस्त सौन्दर्य ने ही उसका आश्रय लिया था। उसके पदचाप से चाहे रक्त-कमल न खिले मेरा हृदय तो रक्त-कमल की भाँति ही खिल उठता। केवल मेरा ही नही, उस नाटे मर्कट-से वृद्ध पुरोहित को क्या मै नही जानता, जो देवदत्ता जैसे कहती वैसे करता। ओर द्वारपाल भोषण्डिक ? यदि देवदत्ता मात्र उसके समीप से गुजर जाती तो वह स्वयं को पुष्पोत्तर विमान का अधिकारी समझता।

देवदत्ता का मेरे प्रति क्या मनोभाव था वह मै जानता हूँ। कभी कहती—"दत्त, तुम्हारे जैसा मनुष्य नही देखा"; कभी कहती—"तुम्हारे स्नेह ने मुझे आवद्ध कर दिया है।" फिर भी आवद्ध हुई थी

या नहीं वह आज भी नहीं कह सकता। पर उसकी आँखो के तरल प्रवाह मे मैं अवश्य मीन की भाँति अटक गया था, यह कह सकता हूँ।

वैद्यराज को लेकर जब लौटा तो रात्रि का प्रथम याम व्यतीत हो चुका था। वैद्यराज घर पर नही थे अत. लौटने मे विलम्ब हुआ। आकाश उस समय चाँदनी से इस प्रकार भर गया था मानो किसी अज्ञात शिल्पी का सुधा-विलेपन-चूर्ण पात्र ही उलट गया हो। मैं देवदत्ता की बात ही सोच रहा था। न जाने वह कितनी उत्कंठित हो गयी होगी। देखा, ऐसा ही था। वह चौखट के पास खडी पथ की ओर ही देख रही थी। हमें आते देखकर आगे आयी और घर के भीतर ले गयी। घर में मृत्प्रदीप जल रहा था। उस मृत्प्रदीप के आलोक में मैंने आगन्तुक अतिथि को प्रथम बार देखा। सुन्दर पतला-सा गौरवर्ण चेहरा—पर ज्वर की तीव्रता से वही गौरवर्ण बान्धुलि पुष्प की भाँति इषत् रक्ताभ हो उठा था। मुख पर थी साधना लब्ध दीप्ति और शुचिता जो कि सहज ही श्रद्धा को आकर्षित करती थी। वह नेत्र निमीलित किये सोया था। पद शब्द पर चक्षुद्वय एक बार उन्मीलित कर पुनः निमीलित कर लिये।

वैद्यराज बहुत देर तक नाडी पकडे बैठे रहे। फिर एक रुखे स्वर में उत्कट नामोच्चारण कर बोले—"सान्निपातिक ज्वर। सात दिन व्यतीत हुए बिना कुछ नही कहा जा सकता। मैं औषधि दूँगा—पर परिचर्या ही इसके लिए एकमात्र औषधि है।"

देवदत्ता बोली—"वैद्यराज! उसकी चिन्ता मत करिए। आप इन्हें आरोग्य कर डालिए।"

"मनुष्य में क्या शक्ति है, सब कुछ ईश्वर की इच्छा है" आदि-'

आदि कुछ नीतिमूलक वाक्य व उपदेश देकर वैद्यराज प्रस्थान कर गये। उनके साथ जा कर मै औषधि ले आया। कमलमधु में मिलाकर दिन में चार वार खिलानी थी।

औषधि को मधु में मिलाकर देवदत्ता के हाथो में पकड़ाया। देवदत्ता वोली—"दत्त! तुम यदि यही रह जाओ तो अच्छा रहे। न जाने कब कौन-सा कार्य आ पडे "

मैंने कहा—"ठीक है।"

देवदत्ता ने घर से एक कम्वल लाकर दी। उसे अतिथिशाला के वरामदे में विछा कर सो गया। देखा, आकाश में चन्द्र उसी प्रकार सुधावर्षण कर रहा था और वही सुधा वरष रही थी मेरे अन्तर में भी। देवदत्ता का इतना निकट सान्निध्य वह प्रथम ही था।

सुख के दिन सहज मे ही व्यतीत हो जाते है। दुःख के दिन होते है दीर्घ विलम्वित। किन्तु, मेरे वे दिन सुख के थे या दुःख के, वह आज भी निरुपित नही कर सका। चाहे वे दिन सुख के हों या दुःख के अतिक्रान्त होने पर थे। देवदत्ता का मैने एक नवीन रूप देखा। इसके पूर्व यह रूप नही देखा था। अतिथि की परिचर्या मे वह स्वयं को पूर्णतः भूल गयी थी। इधर तो लग रहा था कि आहार ग्रहण करना भी भूल गयी। सोचा—शायद रंधन का समय नही मिलता होगा अतः वाजार से पिष्टक खरीद लाया। उसके सम्मुख रखकर वोला—"देवदत्ता! विना खाए तुम्हारा शरीर शीर्ण होता जा रहा है। तुम्हारे लिए पिष्टक लाया हूँ। खा लो।"

किन्तु, देवदत्ता ने पिष्टक नही खाया। वोली—"अभी मै नही खा सकती। तुम एक वार वैद्यराज को फिर वुला लाओ। ये स्वस्थ हो जायेंगे सुनकर खाऊँगी।"

अतः पिष्टक को रखकर वैद्यराज को बुलाने दौड़ा। वैद्यराज ने आते ही पुनः नाड़ी पकड़ी। पहले तो उनके भ्रू कुंचित हो उठे, फिर क्रमशः शिथिल होते गये। अन्ततः ओष्ठाधरों पर हास्यरेखा दिखाई दी। नाड़ी छोड़कर बोले—"इस यात्रा में इनकी रक्षा हो गयी। दो दिनों में ज्वर भी पूर्णतः छूट जाएगा। पर स्वस्थ होते-होते सात दिवस लग जाएँगे।"

वैद्यराज के चले जाने पर मैं बोला—"देवदत्ता! अब तो तुम्हारा चाहा हो गया। ये स्वस्थ हो जाएँगे। अब पिष्टक खा लो।"

देवदत्ता कुछ हँसी। बोली—"दत्त! उसकी इतनी क्या जल्दी है। और दो दिन जाने दो। खाये बिना मर नहीं जाऊँगी।"

अब उसे कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। सोचा—अतिथि के पूर्ण आरोग्य होने पर ही वह आहार ग्रहण करेगी। मैं तब भी देवदत्ता को ठीक से नहीं समझ सका। पर जितना ही देखता उतना ही आश्चर्य-चकित होता जाता। वास्तव में देवदत्ता की तुलना नहीं। कौन है ऐसा संसार में जो रोगी की इस प्रकार परिचर्या करे? एक दीर्घ निःश्वास स्वतः ही निकल पड़ा मेरे अन्तर से। बोला—"दत्ता! वैद्यराज ने नहीं, तुम्हीं ने अतिथि को प्राण दिया है।"

दत्ता कहकर मैंने इसके पूर्व उसे कभी सम्बोधित नहीं किया था। अतः वह चमक उठी। फिर अंजलिबद्ध हाथों को ललाट पर रखकर बोली—"मैं कौन हूँ?" फिर कुछ रुक कर बोली—"दत्त! मैंने तुम्हें पहले यह नहीं बतलाया था कि ये एक साधक हैं। चक्रेश्वरी देवी की साधना से वैताढ्य अवस्थित जिनबिम्ब का दर्शन कर उन्हीं के आदेश से चन्दन-काष्ठ की जीवंत स्वामी प्रतिमा देखने के लिए यहाँ आये थे।

पर दैवगति से अस्वस्थ हो पडे। क्या इन्हे निरामय वना देना हमारा कर्त्तव्य नही ?"

देवदत्ता ने 'हमारा' शब्द इस प्रकार उच्चारण किया कि मेरे समस्त अन्तर में एक आनन्द-का सिहरन प्रवाहित हो चला।

देवदत्ता कहे जा रही थी—"दत्त। तीन दिन व्यतीत होने पर भी जव मैंने देखा, ये स्वस्थ नही हो पा रहे हैं तो मैंने चक्रेश्वरी देवी की शरण ग्रहण की। मन ही मन संकल्प किया इनके स्वस्थ होने पर ही मै अन्न ग्रहण करूँगी। अतः इनके निरामय होने में चक्रेश्वरी देवी की कृपा ही प्रधान है।"

मैंने कहा—"दत्ता! चक्रेश्वरी देवी को तो मैंने नही देखा है; तुम को देख रहा हूँ। मैं तो फिर कहूँगा—इस अतिथि को तुम्ही ने प्राण दिए हैं।"

देवदत्ता ने कोई प्रत्युत्तर नही दिया।

वैद्यराज कथित वे दो दिन भी अतिक्रान्त हो गये। सचमुच ही इस अवधि में अतिथि का ज्वर उतर गया था। देवदत्ता ने छः दिन के उपवास के पश्चात् चक्रेश्वरी देवी को प्रसाद चढाकर आहार ग्रहण किया। क्रमशः अतिथि सवल होने लगे। अव अतिथिशाला में मेरे रहने की आवश्यकता नही थी। मै घर लौट आया। पूर्व की भाँति ही माला-चन्दनादि लेकर जाने लगा।

एक दिन सुना, अतिथि चले गये। यह भी सुना अव वे संसार में प्रत्यावर्त्तन नहीं करेंगे अतः जो कुछ भी उनके पास था वह देवदत्ता को दे गए।

उनके पास रखने लायक क्या था वह मैं नही जानता, देवदत्ता ने भी मुझे कुछ नही बताया। किन्तु आज वह कुछ अन्यमनस्क-सी दिखाई दे रही थी। एक दो बात पूछी भी पर उसने किसी का भी उत्तर नहीं दिया। अस्तु अधिक कुछ जिज्ञासा न कर मैं घर लौट गया।

सोचा था दूसरे दिन इस पर कुछ परिहास करूँगा। पर दूसरे दिन जो कुछ देखा उससे तो मेरा सिर ही चकरा गया। वह मुझसे माला-चन्दनादि ले जाने वाली मेरी पूर्व परिचित देवदत्ता नही कोई दूसरी ही देवदत्ता थी। यद्यपि उसने पैरो में अलक्तक नही लगा रखा था, फिर भी जब उसने कुट्टिम भूमि पर पैर रखा तो मैंने साश्चर्य देखा जैसे उस पर प्रवाल मणि की रसधारा प्रवाहित हो गई हो। उसके शुभ्र स्वच्छ दुकूल से एक लघु लाल वर्ण की तरग-सी उठने लगी। नूपुरों की ध्वनि ने उस तरंगायित प्रवालमणि की रसधारा को जैसे और भी मनोहारी बना दिया था। रत्नावली माला को तो मैंने लक्ष्य ही नही किया। किन्तु उसके अंचल से वहिर्निर्गत बाहु युगलो को देखकर तो मुझे मृणाल का भ्रम हो गया। उसकी पतली चचल अगुलियों की नखप्रभा ने जैसे उन्हे वलयित कर रखा था। उसके मुख की ओर देखकर तो न जाने और क्या-क्या देखता पर उस ओर देखने का तो मेरा साहस ही नही रहा। अत• मै नतनेत्र खडा सोचता रहा—निखिल शोभा की मनोहारिणी यह पद्मराग पुत्तलिका देवदत्ता की देह का आश्रय लेकर मुझे क्यो छलने आयी। मै निर्वाक एव निस्पन्द हो गया।

देवदत्ता ने ही मेरा हाथ पकडकर खीचा। बोली—"दत्त! तुम मुझे पहचान नही पा रहे हो?"

विद्युत-स्पर्श-सा अनुभव हुआ मुझे हाथ पर। बोला—"हाँ दत्ता!

मैं सचमुच ही तुम्हें नही पहचान सका। इतना रूप तुमने कैसे प्राप्त किया ? क्या तुम्हे उस अच्छोद सरोवर का सन्धान मिल गया है जिसमें स्नान कर मनुष्य दिव्य कान्ति लाभ करता है ?"

देवदत्ता हँस पडी। बोली—"नही। मै तुम्हे सब कुछ बताऊँगी पर तुम किसी से कहना मत" कहती-कहती कुट्टिम तल पर बैठ गयी। मैं भी उसके पाँवो के पास बैठ गया।

देवदत्ता बोली—"दत्त। यह तो तुमने सुना होगा कि अतिथि चले गये। और यह भी सुना होगा वे अपना सर्वस्व मुझे दे गए। पर उनका सर्वस्व क्या था ? वह थी चक्रेश्वरी प्रदत्त दो गुलिकाएँ। वही जाते समय मुझे देकर बोले—'अब मै जब संसार परित्याग कर रहा हूँ तब इनकी मुझे कोई आवश्यकता नही। तुम्हारी परिचर्या ने मुझे तुष्ट किया है। अतः तुम इन्हें ग्रहण करो। जो कामना कर तुम इस गुलिका का भक्षण करोगी वह सिद्ध होगी।' कल रात मैंने राजरानी-से रूप की कामना कर एक गुलिका भक्षण कर ली।"

मैं बीच में ही हँसते हुए बोला—"तभी तुमने राजरानी-सा रूप प्राप्त किया है। तुम्हारा देह-वर्ण कचन-सा प्रदीप्त हो उठा है। अब तुम देवदत्ता नहीं कचनगुलिका हो।"

देवदत्ता हँसने लगी, कुछ बोली नही।

मैं बोला—"कचनगुलिका। अब तुम दूसरी गुलिका लेकर क्या करोगी ?"

देवदत्ता बोली—"वही सोच रही हूँ। यदि राजरानी नही बनी तो राजरानी-सा रूप पाकर क्या लाभ ?"

हृदय में एक व्यथा-सी अनुभव हुई; फिर भी उसे गोपन कर बोला—"तुम राजरानी होना चाहती हो?"

लगा—मेरा स्वर कुछ विकृत हो गया था या काप गया था। अतः वह विस्मित-सी मेरी ओर देखने लगी।

बोला—"तुम किस राज्य की रानी होना चाहती हो?"

देवदत्ता बोली—"कल से मै यही सोच रही हूँ। भारतवर्ष में पराक्रान्त नृपतियों के मध्य ऐसा कौन पौरूष सम्पन्न स्वाभिमानी राजा है जिसे मै वरण कर सकूँ।"

मेरे मन में जो एक क्षीण आशा की वर्त्तिका जल रही थी वह भी एक फुत्कार में निर्वापित हो गयी। वह तो अपनी भावनाओ में ही डूबी थी अतः रक्षा हुई नही तो वह अवश्य ही देख लेती कि वेदना से मेरा चेहरा नीला पड गया था।

देवदत्ता बोली—"उद्रायन को मै वरण करना नही चाहती कारण "

कारण कुछ भी हो, हो सकता है उद्रायन वृद्ध हो गया था या जहाँ वह दासी की तरह कार्य करती थी वहाँ राजरानी बनकर क्या सम्मान प्राप्त करती? किन्तु, मै बीच में ही बोल पडा—"कंचनगुलिका! भारतवर्ष के नृपतियो के मध्य दासी-पुत्री को जो पट्टमहादेवी के आसन पर बैठा सके वह तो एकमात्र अवन्तीराज चण्डप्रद्योत है।"

दासी-पुत्री के मध्य एक श्लेष था। पर देवदत्ता उसे समझ न सकी। शायद वह शब्द उसके कानो तक पहुँचा ही नही हो। मेरी बात सुनकर वह उत्फुल्ल हो उठी। बोली—"दत्त! तुमने ठीक कहा।

वैसा पराक्रमी और वीर्यवान राजा भारतवर्ष में दूसरा नही।" फिर मुझे कुछ कहने का सुयोग दिये बिना ही वह भीतर चली गयी।

भग्न हृदय लेकर मैं घर लौटा। देवदत्ता मुझे अच्छी लगती थी। किन्तु मन-ही-मन कबसे उसके लिए कामना करना प्रारम्भ किया था यह याद नही। पर आज जब मुहूर्त्त मात्र में ही जगत का समस्त आलोक मेरी आँखों में निष्प्रभ हो गया तब स्वयं को देख सका। लेकिन तब तक बहुत विलम्ब हो गया था। मैं कवि नही, सामान्य मालाकार हूँ। अतः उस मनःस्थिति को वास्तविक रूप देने की सामर्थ्य मुझमें नही। पर उसी मनःस्थिति के कारण दूसरे दिन माला-चंदनादि पहुँचाने नही जा सका। उसके बाद के दिन भी नही, इसी प्रकार और भी कई दिन व्यतीत हो गये।

सोच रहा था ससार मे यह कंचनगुलिका ही समस्त अनर्थों की जड है। साधक ने उसका परित्याग कर ठीक ही किया पर पर उसे देवदत्ता को क्यो दिया? यदि उसे यह कचनगुलिका नही मिलती तो वह न राजरानी-से रूप की कामना करती न चण्डप्रद्योत पर आसक्त होती। कंचनगुलिका पाकर ही तो उसका माथा घूम गया।

फिर सोचने लगा—उसका माथा घूम गया तो मुझे क्या? उसने तो कभी मेरे प्रति प्रेम व्यक्त नही किया था, न ही मैंने कभी किया। फिर यह अंतर्दाह क्यों?

प्रश्न करना सहज है, किन्तु लगा, उस मानसिक स्थिति को वहन करना मेरे लिए अत्यन्त कठिन हो गया था। मन को दमित करने की चेष्टा की, पर देखा वह वल्गाहीन अश्व की भाँति मुझे ढकेल कर दौड गया। कुछ दिन उसे नहीं देखा तो क्या? उसकी चिंता ने क्रमशः मुझे

आच्छन्न कर डाला । रात को ठीक से नीद नही आती । यदि तन्द्रा-सी आ भी जाती तो तुरन्त ही टूट जाती । टूटते ही देवदत्ता की याद हो आती, न जाने क्या-क्या सोच जाता । व्यर्थ है यह सव सोचकर उसे दूर करने की चेष्टा करता । किन्तु, परमुहूर्त्त मे देखता वेलाभूमि के अपसृयमान जल की भॉति वह दुगुने वेग से लौटकर मेरे मानस-तट से टकरा उठता ।

मै जिसके हाथ पुष्प-मालादि राजमहल मे प्रेषित करता, देवदत्ता प्रतिदिन ही उससे मेरे विषय में पूछती । वह भी मेरे कहे अनुसार—"मै अस्वस्थ हूँ" वहॉ कह आता ।

नही जानता देवदत्ता को इस वात पर विश्वास होता था या नही । हो सकता है पहले कर भी लिया हो । किन्तु उस दिन तो आश्चर्य-चकित ही हो गया जवकि वह विना किसी पूर्व सूचना के मेरे मालंच में उपस्थित हुई । मै उस समय पारिजात पुष्पो की आलवाल मे जल-सिंचन कर रहा था । सहसा 'दत्त' पुकार सुनकर पीछे मुडा । देखा वह एक वृक्ष शाखा पर हाथ रखे श्यामलता की भाँति सम्मुख कुछ झुकी-सी खडी थी । पथश्रम के कारण उसका मुखमंडल स्वेद-विन्दुओ से परिपूर्ण था ।

देवदत्ता के कण्ठ-स्वर को सुनते ही पूर्व की भाँति रोमाच हो आया । मेरी देह की समस्त तन्त्रियॉ उस स्वर माधुरी से ध्वनित हो उठी । मन-ही-मन सकल्प कर रखा था कि जव भी उससे मिलूँगा तो कुछ कडी वात कहूँगा । किन्तु समय पर सव कुछ विस्मृत हो गया । मेरा समस्त शरीर एक अननुभूत आनन्द से उल्लसित हो उठा । देह का सम्पूर्ण ताप

जैसे चन्दन रस के स्पर्श से शीतल हो गया। मुँह से कोई बात ही नही निकल सकी। चुपचाप उसके मुख की ओर देखता खडा रहा।

"दत्त! तुम्हे एकात में कुछ कहना है।"

"मुझे? एकान्त में?" सोचने लगा—मैं इतने दिनो गया नही, उसी के विषय में कहेगी या ओह! मेरी दुराशाओ का भी कोई अन्त नहीं था। मन-ही-मन क्या नही सोचा। पर·· पर उसे कहाँ बैठाऊँगा। एकान्त? वह स्थान एकान्त ही तो था। वहाँ कोई नही था। अतः पारिजात कुज की एक वेदी पर उसे बैठाकर मैं भी समीप ही बैठ गया।

किन्तु देवदत्ता, मैं क्यों इतने दिन नही गया, मुझे क्या हो गया था, अभी कैसा हूँ आदि कुछ भी नही पूछी। बोली—"दत्त! तुम जिस दिन वहाँ से चले आये थे, उसी दिन चण्डप्रद्योत को स्मरण कर महात्मा प्रदत्त दूसरी गुलिका भी भक्षण कर ली।"

गुलिका की बात से समस्त शरीर में पुनः ज्वाला-सी धधकने लगी। धमनियों में द्रुतगति से रक्त प्रवाहित होने लगा, पर स्वयं को संयत रखा। जैसे चुपचाप बैठा था, वैसे ही बैठा रहा।

देवदत्ता कह रही थी—"जिस अप्रत्याशित भाव से मैने यह रूप प्राप्त किया ठीक उसी प्रकार अप्रत्याशित भाव से उस दिन चण्डप्रद्योत से मेरा साक्षात्कार हो गया। स्वप्न मे मेरे रूप को देखकर वे छद्मवेष में अवन्ती से वीतभय दौडे आये। देवदर्शन के बहाने मदिर में मुझसे मिले। वे मुझे पट्टमहादेवी बनाकर ले जाना चाहते हैं। साथ में इस चन्दन प्रतिमा को भी। सच तो यह है कि जिस प्रतिमा की मैंने इतने दिनो सेवा की, यत्न किया उसे छोड जाने को मेरा मन भी नही करता।"

मन-ही-मन बोला—तब ले ही जाओ। पर यह इतना सहज नही

था। उद्रायन प्रतिदिन इस प्रतिमा की आराधना करने मंदिर आते। यदि मंदिर में इस प्रतिमा को नही देखेंगे तो स्वर्ग-मृत्यु एक कर देंगे। प्रद्योत वीर हो सकता है पर उद्रायन भी कोई कापुरुष नही।

मुझे चुप बैठा देख देवदत्ता बोली—"इसलिए तुम्हारे पास आयी हूँ। तुम जैसा मेरा हितैषी अन्य कोई नही। तुम्हें एक काम करना होगा। किन्तु अत्यन्त गोपनीय ढंग से, कही कोई जान न ले। काष्ठशिल्पी शिव तुम्हारा मित्र है। उसी से इस प्रतिमा के अनुरूप तुम्हें एक प्रतिमा बनवा देनी होगी। जितना अर्थ व्यय होगा, मै दूँगी।"

मै बोला—"यह तभी सम्भव है जबकि वह उस प्रतिमा के सम्मुख बैठकर कार्य करे। मुझे प्रतीत होता है, यह असम्भव है।"

देवदत्ता बोली—"असम्भव कैसे?"

बोला—"इसलिए कि इस प्रतिमा को अन्यत्र ले जाया नही जा सकता। और यदि मंदिर में बैठकर कार्य करें तो पुरोहित, द्वारपाल सभी को विदित हो जायेगा।"

देवदत्ता थोडी देर कुछ सोचती रही फिर बोली—"दत्त! प्रतिमा निर्माण क्या एक रात्रि में सम्भव नही है?"

"शिव के लिए सम्भव है।"

देवदत्ता का मुख उत्फुल्ल हो उठा। बोली—"आज रात तुम शिव को ले आओ। पुरोहित, द्वारपाल न रहें, उसकी व्यवस्था मै करूँगी।"

देवदत्ता ने क्या प्रबन्ध किया यह तो मुझे ज्ञात नही। पर वह चतुर है यह मै जानता हूँ। फिर पुरोहित और भौषण्डिक पर उसका प्रभाव भी था। अतः रात्रि का प्रथम याम व्यतीत होने पर शिव को लेकर मंदिर गया। द्वार पर भौषण्डिक नही था, पुरोहित भी कही दिखाई नही

दिया। शिव को गर्भगृह में बैठाकर वाहर का द्वार वन्द कर दिया। वोला—"यह काम आज की रात ही पूर्ण कर देना होगा।"

मैं मंदिर की सीढी पर आ बैठा। कृष्ण पक्ष की रात थी। अन्धकारमय आकाश में नक्षत्रराशि दीपमालिका की भाँति जल रहे थे। उधर देखकर मै सोच रहा था—कुछ दिन पूर्व ही तो मैंने अतिथिशाला के वरामदे मे रात व्यतीत की थी। उस दिन की रात और आज की रात में कितना फर्क? उस दिन भी देवदत्ता के कहने पर ही आया था किन्तु , यह 'किन्तु' मन को रह-रहकर वीध रहा था। सोच रहा था, इस नकली चन्दनमूर्त्ति वनवाने में मुझे क्या लाभ है? वल्कि मैं अन्याय को ही प्रश्रय दे रहा हूँ, चोरी में सहायता कर रहा हूँ। उद्रायन ने तो मेरा अनिष्ट नही किया। फिर? नही। यह कार्य मैं देवदत्ता के लिए कर रहा हूँ। देवदत्ता के कुछ कहने पर ना करना मेरी सामर्थ्य के वाहर था। वह अगर कहती—दत्त! तुम्हें शूली पर चढना होगा तो शायद मैं शूली पर चढ जाता। जिस कार्य को करने आया था क्या वह शूली से कम था? यदि अणुमात्र भी यह वात प्रकट हो जाए तो महाराज मुझे शूली दिए विना छोड़ेंगे? पर देवदत्ता के लिए यह कार्य कर रहा था इसलिए मन ही मन आनन्द भी पा रहा था। वह आनन्द यदि नही मिला होता तो शायद यह हीन कार्य मैं नही करता। 'हीन' शब्द कानों को कर्कश लगा। सोचने लगा—अभी जाकर रक्षको को यह सव कह दूँ। चीत्कार कर कह दूँ—मैं कैसा कुकर्म करने आया हूँ। पर तभी मन ने कहा—देवदत्त! यह तुम्हारा महान कर्म है, चरम उत्सर्ग। देवदत्ता के लिये तुमने स्वयं को विलुप्त कर दिया है। स्वर्ग तुम्हारी अपेक्षा कर रहा है। दत्ता कृतज्ञता के साथ-साथ तुम्हे सदैव

स्मरण रखेगी। उसी अमरत्व के आनन्द मे मेरा सारा शरीर सिहरित हो उठा।

शेष रात्रि में देवदत्ता मेरे समीप आकर बैठ गई। बताने लगी—भौपण्डिक को किस प्रकार मद्यपान कराकर घर में बन्द कर आयी है। कल प्रभात के पूर्व उसकी निद्रा भंग नहीं होगी और पुरोहित को स्वस्त्ययन के लिए अपनी बहन के यहाँ भेज दिया है। वह भी कल प्रभात के पूर्व नहीं आ सकता।

बोला—"देवदत्ता! तुम्हारी बहन के विषय मे तो कभी नही सुना?"

देवदत्ता हँसने लगी—"बहन हो तब तो सुनते। जो स्थान बतलाया है वह समस्त रात खोजने पर भी नहीं मिलेगा।"

मै चुप था।

सुबह के काक बोलने के पूर्व ही कार्य समाप्त हो गया। देवदत्ता ने दोनों प्रतिमा को हाथ में लेकर बहुत देर तक निरीक्षण किया। फिर सन्तुष्ट होकर नवीन प्रतिमा को सिंहासन पर स्थापित कर पुरानी को उत्तरीय में बाँध लिया। अन्त में मेरी ओर इस प्रकार देखी जिससे मैं कृतार्थ हो गया।

देवदत्ता प्रदत्त अर्थ शिव के हाथ में देकर बोला—"शिव, सावधान! अणुमात्र भी यह बात प्रकाशित नही होनी चाहिए। यदि हुई तो तुम्हे और मुझे उभय को ही शूली पर जाना होगा।" किन्तु, तब क्या जानता था कि यह बात दूसरे दिन ही प्रकाशित हो जाएगी। इसे ही तो कहते हैं स्त्रियों की बुद्धि। पर मेरी भी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी थी।

अतः प्रद्योत के साथ जब देवदत्ता वीतभय परित्याग करने का उपक्रम

कर रही थी तभी महाराज उद्रायन जीवंत स्वामी की प्रतिमा का दर्शन करने आए। वे देखते ही पहचान गए यह प्रतिमा असली प्रतिमा नही है। पहले पुरोहित की खबर ली गयी। वह कुछ नही कह सका। तदुपरान्त द्वारपाल की। उससे भी जब कुछ नही जाना गया तब मुझे बुलवाया गया।

समस्त नगर में तत्क्षण व्याप्त हो गया कि भगवान महावीर की चन्दन-काष्ठ की जीवंत स्वामी प्रतिमा कोई गतरात्रि में चुरा ले गया एवं उस स्थान पर ठीक उसी प्रकार की प्रतिमा बैठा गया है। अतः डरता-डरता महाराज के सम्मुख उपस्थित हुआ। मन में अनेक प्रकार की बातें उठ रही थी। शूली का भय न हो ऐसी बात भी नही थी। कभी-कभी सत्य बोलने की भी इच्छा हो रही थी किन्तु, यह भी निश्चित था देवदत्ता को वहाँ किसी भी प्रकार नही लाना था। यदि सब कुछ प्रकट भी हो जाएगा तो कहूँगा चण्डप्रद्योत के लिए मैंने ही वह नकली प्रतिमा रखकर असली प्रतिमा चोरी की थी। पर जब तक बिना कुछ बोले चल सकता है चुप रहूँगा।

नही जानता महाराज मेरे मन की बात समझ रहे थे या नही किन्तु, उन्होने मुझसे सीधे रूप में कुछ नही पूछा।

उन्हे प्रणाम करते ही वे बोले—"देखो तो दत्त। यह क्या जीवंत स्वामी की वही प्राचीन प्रतिमा है?"

प्रतिमा हाथ में लेकर कुछ क्षण निरीक्षण करने के पश्चात् बोला—"नही।"

महाराज कुछ देर तक मेरे मुँह की ओर देखते रहे। बोले—"वह प्रतिमा कल रात्रि में चोरी हो गई। तुम इस सम्बन्ध में कुछ जानते हो?"

उभय संकट में पड गया। द्विधा करना ही विपद था अतः तत्काल उत्तर दिया—"नही।"

"क्या जानते हो आज सुवह से ही देवदत्ता को नही पाया गया ?"

इस वार विस्मय-भान करता हुआ अस्फुट रूप में वोला—"देवदत्ता को ?"

महाराज तीक्ष्ण दृष्टि से मेरी ओर देखते रहे। लगा—उन्होने मेरा सम्पूर्ण अन्तर देख डाला। फिर धीरे-धीरे प्रश्न किया—"इन दिनो देवदत्ता का वाह्य रूप परिवर्तन हो गया था, उस विषय में तुम कुछ जानते हो ?"

सहसा मस्तिष्क में एक नयी बुद्धि कौंध गयी। मन ही मन सोचा देवदत्ता को वचाऊँगा, पर प्रद्योत को क्यों ?

अतः वोल पडा—"जानता हूँ।"

महाराज सप्रश्न नेत्रों से मेरी ओर देखते रहे। मैंने वोलना आरम्भ किया—"महाराज! कुछ दिनो पूर्व यहाँ एक महात्मा का आविर्भाव हुआ था। वे चन्दन प्रतिमा का दर्शन करने आए थे। आते ही सहसा अस्वस्थ हो गये। देवदत्ता ने उनकी परिचर्या कर स्वस्थ कर दिया। अतः जाते समय वे देवदत्ता को दो गुलिकाएँ दे गए थे। गुलिका का गुण था उसे भक्षण कर जो भी कामना की जाए वह सिद्ध हो जाती है। देवदत्ता ने प्रथम गुलिका भक्षण कर रूप की कामना की थी। द्वितीय "

मैं कुछ रुक गया था। महाराज मेरी ओर देख रहे थे। मुझे रुकते देख वोले—"द्वितीय गुलिका भक्षण कर उसने क्या कामना की थी ?"

वोला—"अवन्तीराज चन्डप्रद्योत को।"

मेरी वात समाप्त होने के पूर्व ही महाराज वोल उठे—"समझ गया, यह उस दासी-पुत्र का काम है। इस चन्दन प्रतिमा पर उसकी वहुत दिनों से दृष्टि थी। इस सुयोग पर वह देवदत्ता एव चन्दन प्रतिमा को लेकर भाग गया है। पर कितनी दूर जाएगा"—कहते हुए मुझसे और कुछ प्रश्न न कर वहाँ से प्रस्थान कर गए।

मैने भी निःश्वास छोडा—वचा। यदि वे और खुरच कर पूछते तो मै क्या बोलता नही जानता, पर इससे साँप भी मरा और लाठी भी नही टूटी।

महाराज जव द्रुतगति से मन्दिर त्याग कर चले गये तव समझा कि प्रद्योत को पकडने के लिए वे अवन्ती के पथ पर द्रुतगामी अश्वारोही सैन्यदल भेजेंगे। वही हुआ। मध्याह्न अतिक्रान्त होते-होते सवाद आया—प्रद्योत पकड लिया गया। देवदत्ता एव चन्दन प्रतिमा सह उसे वीतभय लाया जा रहा है।

यह संवाद मुहूर्त्त मात्र में दावानल की भाँति चारो दिशाओ में फैल गया। पराक्रात रणकुशल चण्डप्रद्योत का धृत होना तो एक घटना थी ही, उसके उपरान्त चन्दन प्रतिमा के प्रत्यावर्तन ने उसे एक ऐसा महत्व दिया कि उस दृश्य को देखने के लिए दल के दल लोग राज प्रासाद के चत्त्वर पर समवेत होने लगे। मै भी उस दल में सम्मिलित होकर एक ऐसे स्थान पर आकर खडा हो गया जहाँ से देवदत्ता को खूब समीप से देखा जा सकता था।

सन्ध्या होने में तव वहुत देर थी। उसी समय देखा—अश्वारोही वाहिनी परिवृत महाराज का रथ राजप्रासाद के चत्त्वर पर आकर खडा हो गया। रथ के मध्य में उच्चासन पर वह चन्दन प्रतिमा अवस्थित

थी। उसके पीछे थे चण्डप्रद्योत और देवदत्ता। सम्मुख सारथी के पार्श्व में अश्वारोही वाहिनी के नायक योधाजित बैठे थे।

चण्डप्रद्योत को शृंखलाबद्ध नही, ससम्मान लाया गया था। महाराज उद्रायन धीर स्थिर और धार्मिक प्रकृति के मनुष्य थे। अतः किसी भी विषय मे वे हठवादी नही थे।

मै देवदत्ता की ओर देख रहा था। वह किसी ओर न देख माथा नीचे किये बैठी थी।

देवदत्ता के लिए मेरा मन जैसे आर्द्र हो उठा। सोच रहा था—आज वह जिस परिस्थिति के सम्मुखीन है वह परिस्थिति कदापि नही आती यदि वे महात्मा नही आते, यदि उसे गुलिका नही मिलती। वह दासी थी दासी ही रहती। अवन्ती की पट्ट महारानी होने का स्वप्न नही देखती। उच्चाशा के कारण ही तो आयी आज की ये लाञ्छना?

तो उच्चाशा अच्छी नहीं? यह नही कह सकता। उच्चाशा नही रहने पर मानव कभी महान नही बन सकता। किन्तु, देवदत्ता की इस लाञ्छना में मेरा भी दायित्व कुछ कम नहीं था। मै यदि नकली चन्दन प्रतिमा के निर्माण मे सहयोग नहीं देता तो शायद आज जिस परिस्थिति का उद्भव हुआ वह नही होता। देवदत्ता और चण्डप्रद्योत को पकडने के लिए निश्चय ही महाराज सैन्य प्रेरण नही करते। यह भी भाग्य ही था। यदि युद्ध हुआ होता तो किसकी सामर्थ्य थी कि वह प्रद्योत को बन्दी बना लेता। किन्तु आज तो वह निरस्त्र नही होने पर भी एकाकी था।

देवदत्ता की ओर मेरा मन धावित हो गया। क्या सचमुच ही प्रद्योत देवदत्ता को पट्ट महारानी बनाएगा? मुझे तो ऐसा नही लगता।

भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तो से चुनी हुई सुन्दरियो को पकडकर उसने अपना अन्तःपुर भर डाला है। नाना स्थानो के इन्ही पुष्पो के मध्य देवदत्ता भी मात्र एक पुष्प की तरह खिली रहेगी। जब तक उसका रूप और यौवन रहेगा तब तक प्रद्योत मधुलोभी भ्रमर की भाँति उसकी अधर-सुधा का पान करता रहेगा। तदुपरान्त, उडकर जा बैठेगा अन्य पुष्प पर। हाय देवदत्ता! तुम उपेक्षिताओ के दल की ही मात्र अभिवृद्धि करोगी। साथ ही यह भावना भी उभरी—काश! देवदत्ता मेरी होती!

एक तीक्ष्ण वेदना मेरे समस्त शरीर में व्याप्त हो गई—क्या देवदत्ता को मुझसे प्रेम नही था? यदि न भी हो, मै तो उससे प्रेम करता हूँ।

महाराज उसी क्षण आ गए थे। वे एक स्वर्ण खचित छत्र के नीचे खडे थे। उनके दाहिनी ओर थे मन्त्री और सेनापति, बायी ओर वृद्ध पुरोहित। पुरोहित न जाने क्यो मुझे कीट की भाँति लग रहा था। वह वही नकली जीवंत स्वामी की प्रतिमा लिए खडा था।

प्रद्योत एव कचनगुलिका को तत्क्षण नीचे उतारा गया। महाराज जैसे प्रद्योत को कह रहे थे -"तुम तस्कर की भाँति जीवंत स्वामी की प्रतिमा चुराकर लिए जा रहे थे। तुम्हारा अपराध अक्षम्य है। फिर भी मै तुम्हे क्षमा करता हूँ। जीवंत स्वामी की असली प्रतिमा तुम नही ले जा सकते। इस नकली प्रतिमा को लेकर ही लौट जाओ। योधाजित तुम्हे सीमान्त के उस पार छोड आएगा।"

प्रद्योत मस्तक नीचा किए उसी प्रकार खडा रहा जिस प्रकार खडा था। महाराज देवदत्ता की ओर देखकर बोले—"देवदत्ता, तुम मेरी दासी हो। तक्षशिला से तुम्हे क्रय कर लाया था। तुम्हारा अविनय

भी क्षमा के अयोग्य है। फिर भी मै तुम्हे क्षमा करता हूँ। केवल इतना ही नही तुम्हे मै दासत्व से भी मुक्त करता हूँ। अब जैसी तुम्हारी अभिरुचि। तुम्हारी इच्छा हो तो यहाँ रह सकती हो, तुम्हारी इच्छा हो तो अवन्ती जा सकती हो।"

देवदत्ता क्या उत्तर देगी सुनने को मेरा मन दोलायमान हो गया। मुझे आशा थी वह कहेगी—"मै इस चन्दन प्रतिमा को छोडकर नही जा सकती।" पर मेरी आशा टूट गयी। देवदत्ता ने धीरे से कहा—"महाराज, मेरी अवन्ती जाने की इच्छा है।"

लगा—मेरी ही तरह देवदत्ता भी चन्दन प्रतिमा से प्रेम नहीं करती है। उसने जो कहा था—"जिस प्रतिमा की मैने इतने दिनो तक सेवा की, यत्न किया उसे छोड जाने को मन नही करता" वह पूर्णतः झूठ था। वह भी मेरी ही भाँति मनुष्य से ही प्रेम करती है।

कब प्रद्योत और देवदत्ता रथ पर बैठे, कब असली जीवंत स्वामी को रथ से उतारकर नकली जीवंत स्वामी को रथ पर चढाया गया कुछ लक्ष्य ही नहीं किया मैने। ध्यान भंग हुआ रथ चक्र के घर्घर शब्दों से। लगा जैसे वे चक्र मेरे हृदय के अस्थिपंजरों को चूर-चूर कर चले गए। भीषण यातना से आर्तनाद कर उठा मेरा अन्तर। आँखे खुलने पर देखा पथ पार्श्व के एक खजूर वृक्ष के नीचे मै सो रहा हूँ। शुक्ल द्वितीया की क्षीण शशिलेखा निरभ्र आकाश में उदित हो गयी है। हृदय की व्यथा और तीव्र होकर जैसे मुझे दबाए जा रही है।

द्वितीय उच्छ्वास

चन्दन मूर्ति कहानी प्रकाशित होने के पश्चात् कई किस्म के मन्तव्य मेरे कानो में पहुँचे। किसी ने अविश्वास किया। किसी ने उपहास। किसी ने कहा—यह सब शेखचिल्लीपन है। जाति-स्मरण ज्ञान नितान्त झूठ है। कोई कहने लगा—हो सकता है इसमें कुछ सत्य हो पर वह भी आवृत्त है कल्पना के गहरे रग में। किसी ने विज्ञ की भाँति मुझसे प्रश्न किया—यदि तुमको जाति-स्मरण ज्ञान है तो बताओ भगवान महावीर की वह चन्दन मूर्त्ति क्या हुई ? उनका अभिप्राय यही था कि वे लोग इस एक ही आघात से मुझे धराशायी कर देंगे।

पर उनकी वह आशा पूर्ण नही होगी। कारण मुझे जाति स्मरण ज्ञान का अभिमान नहीं है अतः मैं गर्व के साथ कह सकता हूँ वह चन्दन मूर्त्ति क्या हुई। यह मेरे सिवाय अब कोई नही जानता। मैं जानता हूँ, वे कहेंगे—इतनी बडी बात, किन्तु नही, बात बडी नही। सामान्य ही है। मुझे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया है क्या यह मेरा अपराध है ? उस जाति-स्मरण ज्ञान के आधार पर ही मैं मुक्त कण्ठ से कह सकता हूँ कि भगवान महावीर की वह असली एव नकली कोई भी प्रतिमा आज धरती पर नही है। यदि होती तो वह आठवॉ, नौवाँ या दसवाँ आश्चर्य हो सकती थी एव उसे विक्रय कर साधु-व्यवसायी

आशातीत विदेशी मुद्रा अर्जन कर सकते थे। साथ ही मै भी प्रचुर धन लाभ कर जीवन के अवशेष दिन आरामपूर्वक स्वच्छन्दता से अतिवाहित कर सकता था एव यह भी मुझे ज्ञात है, तव वे कहते, इतना सव कहने की आवश्यकता ही क्या है? जो कुछ घटा था वही यथावत् विवृत करो न?

अव मै वही विवृत करूँगा। किन्तु, विवरण प्रारम्भ करते ही लगा—जैसे मेरा समस्त अतीत क्षणिक आलोक में आलोकित हो उठा जिस अतीत पर मेरा कर्तृत्व था भी और नही भी था। यदि मै चाहता तो मेरा जीवन अन्य प्रकार का हो सकता था पर हुआ नहीं। पर उसके लिए आज मुझे कोई खेद नहीं है, कारण अपने जाति-स्मरण के आलोक में मै अपना भविष्य भी देख पा रहा हूँ। अव मै यहाँ जन्म ग्रहण नही करूँगा और अपनी इस जीवन की कहानी लिखकर किसी को परेशान भी नही करूँगा। क्योंकि अव मै मुक्त हो जाऊँगा।

हाँ, तो मै चन्दन मूर्त्ति की वात कर रहा था। महाराज उद्रायन के पास जो चन्दन मूर्त्ति थी वह विद्युन्माली नामक देव ने स्वहस्त से निर्मित कर महाराज को दी थी। उद्रायन श्रमणोपासक नहीं थे, वे थे तापस धर्म में विश्वासी। किन्तु उनकी धर्मपत्नी प्रभावती श्रमणोपासिका थी। प्रभावती वैशाली गणतन्त्र के सर्वाधिनायक चेटक की ज्येष्ठ कन्या थी। इसी चेटक की वहिन त्रिशला के गर्भ से भगवान महावीर का जन्म हुआ था। प्रभावती जव तक जीवित रही इस चन्दन मूर्त्ति की पूजा स्वयं करती रही उनकी मृत्यु के पश्चात् देवदत्ता इस मूर्त्ति की परिचर्या करती। उद्रायन भी पत्नी की प्रेरणा से श्रमण धर्म के प्रति आकृष्ट होकर भगवान महावीर के अनन्य भक्त हो उठे

थे। अन्तिम दिनों में भगवान महावीर के प्रति इतने श्रद्धालु हो गए थे कि उन्होंने प्रतिमा के सम्मुख यह संकल्प किया कि यदि भगवान महावीर उनका उद्धार करने वीतभय आएँ तो वे राज्य परित्याग कर श्रमण दीक्षा ग्रहण कर लेंगे। महावीर ने उनका वह सकल्प पूर्ण किया। किन्तु, उद्रायन ने राज्यभार निज पुत्र अभीचि को न देकर भगिनीपुत्र केशी को सौंपा। उन्होंने सोचा राज्य प्राप्त कर वह चिर दिनो के लिए विषय भोग में आवद्ध हो जाएगा, कभी सयम ग्रहण नही कर सकेगा। यह उसके लिए कल्याणकर नही होगा।

उद्रायन ने अपने पुत्र अभीचि के कल्याण की चिन्ता की, भगिनीपुत्र केशी के कल्याण की नही। शायद इसीलिए केशी के हाथो उनकी मृत्यु हुई। उद्रायन उस ममय धर्म प्रचारार्थ वीतमय आए हुए थे। केशी भी प्रथम तो उनकी अभ्यर्थना के लिए प्रस्तुत हुआ किन्तु दुष्ट लोगो का अभाव किसी युग में नही रहा। उन्ही में से किसी ने यह कहकर राजा के कान भर दिए कि उद्रायन धर्म प्रचार के लिए नही अपना राज्य पुनः हस्तगत करने आए हैं। फलतः केशी ने राज्य में यह उद्घोषणा करवा दी कि कोई भी उद्रायन को अन्न-जल एवं रहने को स्थान न दे। अन्ततः अन्न में विष मिश्रित करवाकर उनके जीवन का अन्त ही कर दिया। उद्रायन की इस अपघात मृत्यु से विद्युन्माली क्रोधित हो उठा। अतः अग्निवर्षण कर सम्पूर्ण वीतभय नगरी को विनष्ट कर डाला। उसी के साथ वह असली चन्दन मूर्त्ति भी पृथ्वी से विलुप्त हो गयी। एक कुम्भकार ने राजाज्ञा की अवहेलना कर उद्रायन को आहार-पानी दिया था। यही कारण है कि वीतभय का नाम सदा के लिए इतिहास से विलुप्त हो गया और उस स्थान का नाम हुआ कुम्भकार पक्ष।

अब मैं नकली मूर्त्ति की बात बताऊँगा। क्योंकि उस मूर्त्ति का निर्माण मैंने ही तो करवाया था। उसी मूर्त्ति के साथ मेरा भाग्य भी जैसे जुड गया था।

अग्निदाह में मेरी मृत्यु के पश्चात् क्या हुआ यह मुझे याद नही। अग्निदाह में मैंने क्या यन्त्रणा अनुभव की वह भी याद नही। फिर भी देवदत्ता की अनुपस्थिति में मैं जिस यन्त्रणा का अनुभव कर रहा था अवश्य ही उस यन्त्रणा से वह अधिक नही थी। देवदत्ता के चले जाने से मेरा जीवन जैसे शून्य-सा हो गया था। एक-एक मुहूर्त्त एक-एक युग की भाँति लगता। छटपट करता इधर-उधर घूमता। कभी-कभी उज्जयिनी जाने की सोचने लगता। पर वहाँ जाकर भी क्या होता ? अन्तःपुर में तो मैं प्रवेश कर नही सकता था। फिर किस प्रकार देख पाता देवदत्ता को ? उस समय मेरी अवस्था अर्द्ध उन्मादमयी हो गयी थी। अतः वह अग्निकाण्ड मेरे लिए श्राप नही वर साबित हुआ। किन्तु उस समय कहाँ जानता था कि यह जाति-स्मरण ज्ञान एक अभिशाप है। हम पूर्व जन्मो की बातें भूल जाते हैं यही तो हितप्रद है। यदि ऐसा न होता तो उन जन्मो की वेदना से हम इतने भाराक्रान्त हो उठते कि जीवन का कोई भी आनन्द या रस प्राप्त ही नही कर पाते। विस्मृति से अधिक आनन्दमय-सुखमय और कौन-सी अवस्था हो सकती है।

हाँ, तो मै कह रहा था उस मृत्यु के पश्चात जब मैंने आँखें खोली, और मुझे पुनः ज्ञान हुआ तो देखा—शिप्रातट स्थित एक अत्यन्त प्राचीन न्यग्रोध वृक्ष के जीर्ण कोटर में मेरा जन्म हुआ है। मेरा जन्म होते ही असह्य प्रसव वेदना में मेरी माँ की तत्काल मृत्यु हो गयी। पिता कितने

वर्ष के थे यह तो ठीक नही कह सकता—पर हाँ, उनके दोनों डैने कुश की भाँति कर्कश हो गए थे। कन्धे झुक गए थे। यहाँ तक कि अधिक दूर उडने की क्षमता भी खो बैठे थे। अतः आहार के पश्चात् जो आधे खाए हुए फल अन्य पक्षीगण धरती पर गिरा देते उन फलों के टुकडे एवं जमीन पर गिरे हुए शालिवल्लरी के तन्दुल कण वे उठाकर लाते और मुझे खिला देते। तत्पश्चात् जो कुछ बचता वह स्वय खा लेते। इसी प्रकार क्रमशः मै बडा होने लगा। उज्जयिनी के राज्यान्तःपुर में प्रवेश कर देवदत्ता को देखने की जो इच्छा की थी लगता है उसी के कारण मेरा तिर्यंच योनि मे पतन हुआ। यदि ऐसा नही होता तो अन्य इतने स्थानो के रहते मै उज्जयिनी के शिप्रातट स्थित इस न्यग्रोध वृक्ष के कोटर में शुक पक्षी के रूप में क्यों जन्म ग्रहण करता?

तिर्यंच योनि में जन्म लेने से क्या हुआ? आकाशचारी चारण मुनिओके कथोपकथन से एक दिन मुझे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। उसी ज्ञान में देवदत्ता का स्मरण हो आया। अतः उसे देखने के लिए व्यग्र हो उठा। किन्तु हाय! उस समय कहाँ हुआ था मेरा पक्षोद्गम। एतदर्थ कोटर छोडकर नही जा सका। पर मेरा मन उडकर उज्जयिनी के राज्यान्तःपुर के इधर-उधर मँडराने लगा।

क्रमशः और बडा हुआ। कुछ-कुछ उडना भी सीखा। तब मै इस डाल से उस डाल पर उडकर जा सकता था। किन्तु इतनी शक्ति नही थी कि इस शिप्रातट से उडकर राज्यान्तःपुर जा सकूँ। फिर भी देव-दत्ता को देखने की अभिलाषा ने मुझे उन्मत्त बना डाला था। तभी तो यह भी ध्यान नही रहा कि वृद्ध पिता को देखने वाला मेरे बाद कोई

नही था। यहाँ तक कि स्वयं की सुरक्षा की वात भी भूल गया और अपटु डैनो को आकाश में विस्तारित कर वैठा। राज्यान्तःपुर कहाँ है यह भी तो नही जानता था और नहीं जानता था उसका दूरत्व। पर कहाँ होता है कामी को यह सव ज्ञान। एतदर्थ कुछ दूर गया नही कि मेरे डैने शिथिल हो गए और मैं आकाश से धरती पर गिरने लगा। यदि धरती पर गिर गया होता तो निश्चय ही मेरी मृत्यु हो जाती पर तव भी मेरी आयु अवशेष थी। अतः घने पल्लवो के एक निकुज शिखर पर जा पडा। गिरने की प्रथम प्रतिक्रिया मिटते ही पत्तो की फाँक से नीचे की ओर देखा। देखा—एक सुन्दर स्वच्छ सरोवर। सरोवर के जल में अनेक रक्तवर्ण के कमल खिले थे। मेरा कण्ठ सूख गया था। क्षुधा भी लग रही थी। अतः धीरे-धीरे निकुंज शिखर से जमीन पर उतरा। फिर सरोवर के जल में पंख भिगोकर जलपान किया, नरम-नरम पद्म वीजो का आहार किया। भाग्यवश वहाँ कोई मनुष्य नही था, इसीलिए निरापद रूप से पुनः उसी निकुज शिखर पर आरोहण कर सका। उस दिन वही रात्रि यापन की एवं दूसरे दिन राज्यान्तःपुर की ओर अग्रसर होना निश्चित किया।

पहले ही कह चुका हूँ उज्जयिनी का राज्यान्तःपुर किस दिशा में कहाँ था तव मुझे ज्ञात नही था। अतः राज्यान्तःपुर खोजते-खोजते और तीन दिन निकल गए।

प्रद्योत नारी सौन्दर्य का उपासक था। इसीलिए वह जहाँ भी उस सौन्दर्य का सन्धान पाता वही से उसे लाकर अपने अन्तःपुर को भर देता। अतः राज्यान्तःपुर में प्रवेश करते ही मुझे ऐसा भ्रम हुआ जैसे मैं नन्दनवन में आ गया हूँ। जिधर दृष्टि पडी उधर ही पारिजात

पुष्प की भाँति सुन्दर रमणियों के प्रस्फुटित मुखों को देखा। इनमें से देवदत्ता को खोज निकालना आसान कार्य नहीं था। अतः दो दिन और व्यतीत हो गए उसे खोजने में। इसी बीच राज्यान्तःपुर में एक आश्चर्यजनक शुक की बात सर्वत्र फैल गयी थी कि वह एक देहरी से दूसरी देहरी पर न जाने किसे खोजता फिर रहा है।

जिस दिन देवदत्ता के अन्तःपुर में प्रवेश किया उस समय मध्याह्न अतिक्रान्त हो चुका था। देवदत्ता शिप्रा नदी की स्वच्छ जलधारा की भाँति शुभ्र दुकूल में आच्छादित एक सुकोमल शय्या पर शयन कर रही थी। यद्यपि उसे अन्तिम बार जिस दिन देखा था उसमें और आज में दीर्घ बारह वर्षों का व्यवधान था फिर भी देखा—उसका देह-सौन्दर्य और सौष्ठव था वैसा ही अटूट। यह कैसे सम्भव हुआ कह नहीं सकता। शायद गुलिका का प्रभाव रहा होगा किन्तु मुझे वह तन्वंगी लता की भाँति ही प्रतीत हुई। मन में कितनी ही बातें उमड़ रही थी। आनन्द से कलरव करते हुए बहुत कुछ कहना चाहा पर शुक पक्षी के कण्ठ निःसृत चीं चीं शब्द के अतिरिक्त अन्य कोई भी शब्द मेरे मुख से नहीं निकल सका।

उस चीं चीं शब्द को सुनकर देवदत्ता मेरी ओर देखने लगी। ऐसा लगा जैसे एक सुन्दर भ्रमर समूह आकाश में उड़ गया। वह मुझे पहचान सकी या नहीं यह नहीं कह सकता पर मुझे देखते ही सहज प्रेम से उसका हृदय उल्लसित हो उठा। हो सकता है उसने भी उस अद्भुत शुक की बात सुन रखी हो तभी तो मुझे पकड़ने के लिए उसने हस्त प्रसारित किए। शायद मन ही मन उसने सोचा होगा वह मुझे नहीं पकड़ सकेगी, मैं उड़ जाऊँगा। पर कहाँ जानती थी वह

कि उसे छोड़कर अन्यत्र उड जाने की सामर्थ्य मुझमें नही थी। उसकी पकड में आने ही तो आया था मैं। तभी तो उसने ज्यों ही हस्त प्रसारित किए मैं उडकर उस पर जा बैठा।

मुझे अपने हाथ पर पाकर देवदत्ता ने और अधिक उल्लसित हो मुझे हृदय से लगा लिया। फिर · फिर जैसे मुझे विवश कर डाला चुम्बनों से। मेरी कई दिनों की श्रम, उत्कंठा, अनाहार, अर्द्धाहार यहाँ तक कि तिर्यंच योनि के जन्म ग्रहणका दुःख सब कुछ जैसे मै इस सौभाग्योदय में भूल गया। देवदत्ता के ओष्ठों पर मैंने अपनी चोंच से आघात किया। देखा—उसके रक्त-प्रवाल-से अधरों पर फूट पडा एक विन्दु रक्त। "दुष्ट कही का!" कहती हुई उसने उस प्रेम की ताडना की।

वह आनन्द विह्लता समाप्त भी न हो पायी कि मैंने अनुभव किया मेरे पावों में सुवर्ण शृखला डाल दी गयी; ताकि मै उड न जाऊँ। कोई आवश्यकता नही थी इसकी कारण मै भागने नही आया था, रहने आया था। पर देवदत्ता कैसे जान पाती यह सब!

मुहूर्त्त मात्र में देवदत्ता के आदेश से मेरा भोजन आया। मुझे स्नान कराकर खाद्य-वस्तुएँ मेरे मम्मुख रख दी गई। देखा—एक स्वर्ण कटोरी में था कोकिल के नेत्रों की भाँति नील लाल जम्बू रस। दूसरी में सिंह के नखोदीर्ण गजकुम्भ के रक्त सने मोती सदृश दाडिम के दाने। क्या सुन्दर रग था उन अंगूरो का। पद्म-पत्रों की भाँति मरकत। देवदत्ता ने अपने हाथों से मुझे खिलाया।

इस प्रकार देवदत्ता के घर रम्य सुवर्ण दण्ड पर मेरे दिन आनन्द में व्यतीत होने लगे। कहाँ कल्पना कर पाया था मै इतने अपार सुख

की। यहाँ मैं देवदत्ता को विभिन्न रूपों में देखता। कभी सुवर्ण पर्यंक पर सोयी हुई—सिरहाने बिखरी रहती खुली केश-राशि। कभी स्फटिक शिला पर उपविष्ट, गोद मे पडे उपाधान पर रखे लीलायित सुडौल हाथ,—कभी हस्त उत्तोलित कर परिचारिका को कुछ निर्देशन देती, स्फुरित होता ओष्ठाधर। दर्पण में, मणि स्तम्भो में, मर्मर पीठिकाओ में प्रतिबिम्बित होती वह सुन्दर छवि। प्रतिबिम्बित होता एक अनवद्य सौन्दर्य, सौन्दर्य की छाया का विमोहन चमकित कम्पन।

बीच-बीच में अन्य अन्तःपुरों की रानियाँ मुझे देखने आती। जितना ही वे मुझे देखती उतनी ही अवाक् हो जाती। मै भी कम अवाक् नही था। क्या इतना सौन्दर्य धरती पर कही अन्यत्र देख पाता? वे बोलती तो पूर्णमासी के चन्द्र की तरल कौमुदी धारा प्रवाहित हो जाती। कटाक्ष करती तो एक साथ न जाने कितने ही नील पद्मवन प्रस्फुटित हो जाते। खिलखिला कर हँसती तो सहस्र-सहस्र मलय पर्वत का दक्षिण समीर सिहरित हो उठता।

किन्तु उस अपार आनन्द के मध्य कभी-कभी वेदना भी अनुभव करता क्योंकि मैं बोल नही सकता था। जो कुछ सोचता भाषा में व्यक्त नहीं कर पाता। क्या-क्या कहना चाह रहा था देवदत्ता को पर कुछ नही कह पाता। देवदत्ता ने मुझे सिखाना प्रारम्भ किया—हला, पिय, सहि। मैंने धीरे-धीरे उसे सीख भी लिया। पर मै चाह रहा था उसका नाम लेकर पुकारना। द्-द्-द् त्-त्-त् मै स्वयं ही दोहराने लगा। मेरे इस प्रयास को देखकर लगा देवदत्ता विस्मय से आपूरित हो गयी और जिस दिन मैने दत्ता! दत्ता! पुकार कर उसे

निद्रा से जगा दिया उस दिन वह चमक उठी। क्या मैंने अपना पूर्व स्वर पुनः प्राप्त कर लिया था या एक मुहूर्त्त के लिए देवदत्ता के मन में कोई पूर्व स्मृति जाग उठी थी ?

"अरे चुप हो जा न मुँह जले।"—कहती हुई समीप आकर मुझे हाथों पर बैठाया। मेरे पंखो को सहलाने लगी। मैं भी उसके वक्षों मे दुबक गया। ऐसा लगा—जैसे मैं उसके देह के समस्त सौरभ और उत्ताप को पान कर रहा था। कितने ही क्षण बीत गए इसी प्रकार। उसने मुझे पुनः स्वर्णदण्ड पर बैठा दिया। बोली—"सुन। तेरे मुँह में दत्ता-दत्ता शब्द नहीं अच्छा लगता, पिय सहि ही अच्छा लगता है। मै तेरी प्रिय सखी हूँ, समझा ?"

न जाने क्यों देवदत्ता मुझे उस दिन उस प्रकोष्ठ में ले गयी जहाँ वह चन्दन मूर्त्ति रखी हुई थी। उस चन्दन मूर्त्ति को देखते ही मेरा हृदय आनन्द और विषाद से भर गया। दाहिना पॉव उठाकर मैंने उस प्रतिमा को नमस्कार किया। अश्रु प्रवाहित होने लगा मेरी आँखो से। यह देखकर देवदत्ता ने मुझे गोद में बैठाकर कहा—"लगता है तू शुक पक्षी नही कोई श्राप भ्रष्ट देव है।" उस दिन से वह मुझे रोज चन्दन मूर्त्ति के समीप ले जाती, मै भी उस मूर्त्ति को वन्दना नमस्कार करता।

इसी भाँति कई महीने बीत गए। इस बीच एक दिन भी मैंने प्रद्योत को देवदत्ता के अन्तःपुर मे आते नही देखा। किन्तु एक दिन देखा—देवदत्ता का अन्तःपुर जैसे चंचल हो उठा। गृहद्वार पर मंगल कलश स्थापित हुए, कचुकी नवीन वस्त्राभरण में सुसज्जित होकर द्वार रक्षा में सलग्न हो गयी। व्यस्त परिचारिकाएँ इधर-उधर दौड़-भाग

करने लगी। राशि-राशि पुष्प आए। उन्ही पुष्पों से सुसज्जित कर दी गयी देवदत्ता की सुकोमल शय्या। नाना प्रकार के आसव पात्र सजाकर रख दिए गए शय्या के पार्श्व में। मैने "पिय सहि, पिय सहि" कह कर कितनी ही बार देवदत्ता को पुकारा। पर उसे कही नही देख पाया, न-ही किसी अन्य ने ही मेरी पुकार पर ध्यान दिया। मन-ही-मन मैं यह समझ गया था कि प्रद्योत आज की रात्रि यही यापन करेगा। उसी के लिए है यह व्यस्तता, यह सतर्कता।

उस समय सन्ध्या अतिक्रान्त हो चुकी थी। शृङ्गारमयी देवदत्ता उसी शय्या प्रान्त को आलोकित करती पादपीठ पर पाँव रखे बैठी थी। आज वह इस मानव धरती की सुन्दर नारी नही एक आभरण द्युति विद्युतमाला की भाँति सुशोभित हो रही थी।

उस समय मुझे स्वयं पर क्रोध हो आया। मै अपनी तिर्यंच योनि को धिक्कारने लगा। प्रद्योत आज अपने सान्निध्य से देवदत्ता को धन्य करने आएगा यह बार-बार स्मरण कर हृदय में एक गम्भीर वेदना और ज्वाला अनुभव करने लगा। इच्छा हुई इस शृङ्खला को छिन्न कर देवदत्ता के पास दौड जाऊॅ और उसे नोच डालूँ। सहसा देवदत्ता का कण्ठस्वर मेरे कानो में पडा। वह परिचारिका से कह रही थी—"निपुणिके, इस शुक पक्षी के चारो ओर मोटा काला पर्दा लगा दे।"

तो क्या देवदत्ता मुझे पहचान गयी? वह मेरा मनोभाव जान गयी?

किन्तु, उस दिन मेरी दृष्टि इतनी तीक्ष्ण हो गयी थी कि उस काले मोटे पर्दे में से भी मै सब कुछ देख रहा था। मै देख पा रहा था माधुकी से परिपूर्ण पात्र के नील गरल में तैरते हुए बुदबुदों को। उसके

समीप ही सप्तकीमेखला परिवेष्टित कृश कटि तट, मुक्तावली सुशोभित एक सुधा धवल कण्ठ प्रदेश, कुंकुमांकित एक कोमल वक्षपट। फिर संत्रस्त की भाँति देखा—प्रद्योत ने दक्षिण बाहु प्रसारित कर निविड समादर से जैसे स्पर्श किया उसके चिबुक को। चंचल हो उठा मलय समीर। चतुर्दिक बिखर पडी पुंज-पुंज लवंग केशर की सौरभ। सहसा निस्तब्ध हो गया क्रौंच निनादित सरोवर तट।

प्रद्योत के ऊष्ण आलिंगन में समर्पिततनु देवदत्ता ने एक परम स्पर्श महोत्सव में जैसे खो डाला था स्वयं को। तब मैं स्थिर न रह सका। "दत्ता-दत्ता" कहता चीत्कार कर उठा। देवदत्ता के समीप किसी अन्य पुरुष की तो कल्पना भी नहीं कर सकता था।

प्रद्योत का आलिंगन शिथिल हो गया। देवदत्ता को स्वआश्लेष से मुक्त कर उसने काले परदे की ओर संकेत करते हुए पूछा—"कौन है?"

देवदत्ता को मैं इस प्रकार विपद में डाल दूँगा ऐसा उसने सोचा भी नहीं था। आनत नेत्र किए धीरे से बोली—"एक शुक पक्षी तीन मास पूर्व कहीं से उड़कर आया था। उसी को स्वर्णदण्ड पर बाँध रखा है।"

प्रद्योत उस काले पर्दे को सरका कर मेरे सम्मुख आ खडा हुआ। रोष में मेरा शरीर काँप रहा था। मैंने झपट कर उसके दाहिने हाथ की उस तर्जनी को चोंच से कसकर पकड लिया जिससे उसने देवदत्ता की चिबुक को स्पर्श किया था। उसने छुडाने की चेष्टा की पर छुडा न सका। अपनी चोंच से मैंने उस स्थान को क्षत-विक्षत कर डाला था।

"दुर्विनीत" कहता हुआ उसने बाएँ हाथ से मेरा गला दवाया। फिर भी मैंने उस पकड़ को शिथिल नही किया। मेरा निःश्वास अवरुद्ध होने लगा। अन्ततः मैं संज्ञाहीन हो गया।

अव मैं उस शुक पक्षी को स्वर्णदण्ड पर लटकता हुआ देख रहा हूँ। देख रहा हूँ प्रद्योत की तर्जनी पर देवदत्ता मदिरा का प्रलेप कर रही है। न जाने क्यो उस समय उस चन्दन मूर्त्ति को देखने की मेरी इच्छा हुई। मै प्रकोष्ठ की ओर अग्रसर होना चाह रहा था किन्तु शरीर सूक्ष्म हो गया था अतः हवा में कही एक ओर प्रवाहित हो गया।

तृतीय उच्छ्वास

मै चिल्लाकर रो पडा ।

वाहर से किसी ने प्रश्न किया—"क्या हुआ है?" धात्रिका ने प्रत्युत्तर दिया—"पुत्र सन्तान ।"

वाहर से ही एक और कण्ठ स्वर प्रवाहित होता आया—"४ दण्ड, ३ घटिका, ८ पल, ६ विपल ।" फिर कुछ क्षणो तक पूर्ण शान्ति । फिर वही स्वर आया—"चन्द्र तुंगी किन्तु शनि वक्र। जातक कल्पनाशील, भ्रमणशील और वाकपटु होने पर भी कुलागार होगा ।"

देखा, मेरे जीवन में वह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य हुई । मैंने मगध के प्रख्यात् पण्डित के घर जन्म लिया था । मेरे पिता, पितामह सभी दिग्गज पण्डित थे । मेरे पिता के सान्निध्य में ५०० छात्र सतत् विद्याभ्यास करते थे । और मेरे अग्रज सोमदेव भट्ट की वात तो किसने नही सुनी । उसी वश में जन्म लेकर मै प्रायः निरक्षर ही रह गया । जो कुछ सामान्य-सा सीखा वह भी माँ से । मै कुलागार होऊँगा, ऐसा समझकर या तो मै उनके अधिक निकट जाता नही था, इसलिए पिता ने मेरी शिक्षा पर विशेष ध्यान ही नही दिया । मै एक प्रकार से उनके द्वारा परित्यक्त था । किन्तु माँ ने मेरा परित्याग नही किया, मै ही उन्हें एक दिन परित्याग कर चला गया ।

मुझे उस दिन की बात अच्छी तरह याद है। घुमक्कड़ तो था ही। अतः प्रायः घर से भाग जाता। एक नगर से दूसरे नगर, एक जनपद से अन्य जनपद घूमता ही रहता। उस दिन भी दस दिन बाहर व्यतीत कर लौटा था। पिता आगन में बैठे शास्त्राभ्यास करवा रहे थे। मै उनके बगल से गुजरता हुआ घर मे प्रवेश करने जा ही रहा था कि उन्होंने मुझे रोक दिया। बोले—"जहॉ से आए हो वहो लौट जाओ। इस घर में अब तुम्हारे लिए स्थान नही है।" उनकी बात मेरे हृदय में तीक्ष्ण शूल की भाँति चुभ गयी। बस भीतर प्रवेश न कर वहीं से वापस लौटने लगा। भीतर से माँ दौड़ती हुई आई और मुझे कसकर पकड़ लिया। बहुत अनुनय-विनय किया। किन्तु मैने उन सब पर जैसे कान ही नही दिया। एक झटके में ही उनका हाथ छुड़ाकर प्रागण को अतिक्रम करता हुआ बाहर आ खड़ा हुआ। पिताजी का कण्ठ-स्वर तब भी कानो में प्रतिध्वनित हो रहा था। वे माँ को भर्त्सनापूर्वक कह रहे थे—"वह दुर्विनीत है, उसे प्रश्रय मत दो।"

मै वहाँ तब और खड़ा न रह सका। ग्राम-प्रान्त में जो कपित्थ वृक्ष था, उसी के तल में जाकर बैठ गया। बैठे-बैठे रोने लगा। क्यों रोया यह मै नही जान पाया। गृह परित्याग कर आया था इसीलिए? —नही। घर से तो मेरा सम्पर्क ही सामान्य था। तो फिर, मॉ के लिए? यह कह नही सकता।

पर, उस दिन जो गृह परित्याग किया फिर कभी लौटकर नही आया। पदयात्रा करता हुआ कहॉ नही गया और कोन-सा ऐसा कार्य था जो नही किया। कभी नट बनकर खेल दिखाता तो कभी मख

वनकर चित्र-प्रदर्शन करता। कभी नाट्य-मण्डली मे प्रवेश कर अभिनय कला प्रदर्शित करता तो कभी कथा-वाचक वनकर भाव-विह्वल वृद्ध-वृद्धाओं को आनन्द प्रदान करता। भगवान ने मुझे रूप दिया था, कण्ठ-माधुर्य दिया था, कथा सुनाने की न्यूनाधिक वाकपटुता भी मुझमें थी। अतः जीविका के लिए कभी कोई कष्ट नही हुआ। मेरे कैशोर्य और यौवन ने भी उसमें पर्याप्त सहयोग दिया। किन्तु ऐसा नहीं कि मैं चरित्रहीन था।

इसी प्रकार घूमते-घूमते मैं एक दिन उज्जयिनी आ पहुँचा। उस समय प्रद्योत की मृत्यु हो चुकी थी। अवन्ती के सिंहासन पर उसका पुत्र पालक अधिष्ठित था। वह सुशासक तो था ही नही उपरान्त इन्द्रियपरायण व स्वेच्छाचारी भी था। उसके राजत्व काल में उज्जयिनी विट, गणिका और जुआरियों का अड्डा वन गयी थी। साधारण नागरिको की दुर्दशा का तो कोई अन्त ही नही था। सुन्दरी रमणियाँ स्वयं को सुरक्षित नही समझती थी। और धनी श्रेष्ठीगण राज्य द्वारा सर्वस्व अपहरण के भय से सर्वदा सशंकित रहते थे।

जव मैंने नगर में प्रवेश किया, सन्ध्या अतिक्रान्त हो रही थी। कुछ दूर जा भी नही पाया कि एक दूरागत कोलाहल कानो में पडा। कुछ और अग्रसर हुआ तो देखा—एक भग्न जीर्ण मन्दिर के सम्मुख कुछ लोग खडे हैं। उन्ही में एक साड-सा व्यक्ति चिल्ला-चिल्ला कर ताल ठोकता हुआ कह रहा है—"कहाँ जाएगा तू भाग कर। तुझे अवश्य ही पकड लूँगा। खुद ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी आज तेरी रक्षा करने में समर्थ नही हैं। तू दस सुवर्ण हारा है, वह तुझे देना ही होगा।" फिर थोडा रुककर वोला—"अरे! कहाँ गया वह? यहाँ तक तो उसे आते

हुए मैंने देखा है। कहीं उस मन्दिर मे तो नही छिप गया ?" कहते-कहते वह मन्दिर के भीतर प्रवेश कर गया।

अव क्या होगा, देखने के लिए मैं भी वहीं खडा हो गया। थोडी देर वाद ही वह अड्डाधारी मध्यवयस्क एक व्यक्ति को घसीटते-घसीटते वाहर ले आया और वुरी तरह पीटने लगा। साथ ही चिल्लाता हुआ कहता जा रहा था—"काष्ठ-प्रतिमा की भाँति खडे होकर मुझे धोखा देना चाहता था। किन्तु मुझे धोखा देने में आजतक कोई समर्थ ही नही हुआ है। निकाल दस सुवर्ण।"

वेचारा वह व्यक्ति कभी उसके पाँवों पर गिरता, कभी उठकर गिडगिडाते कण्ठसे कहता—"तुम्हारे पाँव पडता हूँ अड्डाधारी, मुझे छोड दो। कल अवश्य ही दे दूँगा दस सुवर्ण।"

तभी भीड से निकल आया एक अन्य व्यक्ति। शायद जुआरी ही होगा। वोला—"छोडना मत उसे।"

समर्थन पाकर अड्डाधारी और सशक्त शब्दो में कहने लगा—"जल्दी निकाल, अभी दे।"

"अभी मैं कहाँ से दूँगा ?"

"वह मैं नही जानता। जव तक दस सुवर्ण नही देगा, तुझे छोडने वाला नही।"

"हाय रे! अव मैं क्या करूँ ? मुझे चक्कर आ रहा है"—कहता-कहता वह धडाम से गिर पडा।

तभी लगा दूसरे जुआरी के मन में सामान्य दया का उद्रेक हो आया। अतः वह वोला—"अच्छा, चल कुछ तय कर लें।"

वह व्यक्ति यह सुनते ही उठकर खडा हो गया। बोला—"तब वही करता हूँ। आधा मै दूँगा, आधा तुम मुझे छोड दो।"

"ठीक है, तब वैसा ही कर।"

फिर वह अड्डाधारी की ओर उन्मुख होकर बोला—"तुम्हें भी मै आधा दूँगा, तुम भी मुझे आधा छोड दो।"

"जा, मैंने भी छोड दिया।"

"तो अब मै चला"—कहते हुए वह व्यक्ति जाने को ज्यों ही उद्यत हुआ कि अड्डाधारी ने उसका हाथ पकड लिया। बोला—"जाएगा कैसे? पहले दस सुवर्ण निकाल।"

"क्या आफत है। अब सुवर्ण क्यो दूँगा? अभी-अभी तो आधा तुमसे छुडवा लिया और आधा उस जुआरी से छुडवा लिया। अब कौन-सा सुवर्ण देना है मुझे?"

"धूर्त्त कही का।" जुआरी और अड्डाधारी एक साथ चिल्ला उठे। "अब तो निकाल पूरे दस सुवर्ण। फिर कर दूसरी बात।"

"कहाँ से लाऊँगा सुवर्ण।"

"बाप को बेचकर दे।"

"कहाँ है मेरा बाप?"

"तो माँ को बेच डाल।"

"माँ भी कहाँ है?"

"तो फिर बेच स्वयं को।"

"ठीक है तब मुझे बाजार ले चलो।"

मै अब चुप न रह सका। सामने आकर बोला—"उसे छोड दो।

उसके दस सुवर्ण मैं ही दे देता हूँ।" मन-ही-मन सोचने लगा—दस सुवर्ण के लिए मनुष्यत्व की इतनी लाञ्छना।

अड्डाधारी अवाक्-सा मेरे मुँह की ओर देखने लगा। उसे तो विश्वास ही नही हुआ कि मैं दया के वशीभूत होकर एक अपरिचित व्यक्ति के लिए दस सुवर्ण दे सकता हूँ। वह व्यक्ति तो आकर मेरे पैरो से लिपट गया। बोलने लगा—"आज आपने मेरे प्राण बचा लिये। नही तो ये चमार मेरी देह का चमडा ही उतार लेते।" फिर अड्डाधारी को क्रूर दृष्टि से देखता हुआ मुझे बोला—"आप मनुष्य नही देवता है।"

सोचने लगा—मनुष्याकृति होने पर भी कहाँ मनुष्य हूँ मैं। देवता तो हूँ ही नही। किन्तु आज दस सुवर्ण दान कर एक जुआरी की प्राण रक्षा कर सका, इससे मन में बडी प्रसन्नता की अनुभूति हुई। पर उसी वक्त एक तीव्र वेदना ने भी मेरे हृदय को सुई की भाँति विद्ध कर डाला। वे दस सुवर्ण ही तो मेरे एक मात्र सम्बल थे। अतः उसे दान कर मै एकबारगी ही निःसत्व हो गया था। किन्तु तत्क्षण ही मन को समझाया कि जिस दिन मैने गृह-परित्याग किया था, उस दिन भी तो कुछ नही था मेरे पास। अतः आज यदि कुछ नही है मेरे पास तो उसके लिए दुःख क्यों? अलम्भिया के एक श्रेष्ठी के यहाँ कथा-वाचन कर ही तो यह दस सुवर्ण प्राप्त किया था। अभी भी कही न कही कथा-वाचन कर कुछ सुवर्ण प्राप्त कर ही लूँगा।

दस सुवर्ण देकर मै नगर की ओर अग्रसर हो रहा था। किन्तु उस व्यक्ति ने मेरा साथ नही छोडा। उसका नाम था शार्वलिक। अनेको बातें की उसने एव मुझे विदेशी समझकर अपने घर पर ठहरने का

अनुरोध करने लगा। दीर्घ पर्यटन के कारण लोक चरित्र के विषय में वहुत कुछ जान गया था मै। अतः उससे वोला—"शार्वलिक, अव तो मेरे पास एक कपर्दक भी नही है। अतः मुझे घर ले जाकर तुम्हे कुछ विशेष सुविधा नही होगी। नगर में पन्थशाला है, मै वही जाकर रात व्यतीत करूँगा। तुम अव प्रस्थान करो।"

शार्वलिक लज्जित-सा हो गया। तत्पश्चात् उसने जो कुछ कहा, उसका तात्पर्य यही था कि उसका एक छोटा-सा घर है। सिवाय पत्नी के ससार में और कोई नही है। फिर भी वह मुझे ले जाना चाहता था मात्र कृत उपकार के प्रतिदान स्वरूप ही। यह भी कहा कि अव उसे जीवन से वितृष्णा हो गयी है। जुआ तो अव वह खेलेगा ही नही वल्कि श्रमण उपगुप्त से उप-सम्पदा ग्रहण कर वौद्ध भिक्षु हो जाएगा।

किन्तु मै किसी भी प्रकार उसके साथ जाने को प्रस्तुत नही हुआ। अन्त में वह मुझे एक वार प्रणाम कर अन्यत्र चला गया।

पन्थशाला में वह रात्रि व्यतीत कर दूसरे दिन प्रातः शिप्रा नदी में स्नान करने के लिए वाहर निकला एव अनेक गलियो को पार करता हुआ जहाँ पहुँचा, वहाँ वहुत पुराना एक न्यग्रोध वृक्ष था। उस वृक्ष को देखकर न जाने क्यो मेरा मन आनन्द से भर उठा। वहुत देर तक उस वृक्ष की ओर देखता रहा। लगा जैसे उस वृक्ष को मैने कभी कही देखा था। अत्यन्त परिचित एवं परम आत्मीय-सा लग रहा था वह वृक्ष। उसके कोटर, शाखा-प्रशाखा, पत्र-पल्लव सभी जैसे मुझे हाथो का संकेत कर वुला रहे थे।

आज आश्चर्यचकित होकर सोचता हूँ, जिस प्रकार शुक जन्म में चारण मुनिओं की कृपा से पूर्व जन्म की स्मृति उदित हुई थी वह इस मनुष्य जन्म मे क्यो नही हुई ? आज जान पा रहा हूँ कि वह न्यग्रोध वृक्ष क्यो मुझे अच्छा लग रहा था। क्योंकि उस न्यग्रोध वृक्ष के कोटर में ही तो मैंने शुक रूप में जन्म ग्रहण किया था। पक्षोद्गम होने पर इसी की तो हर शाखा-प्रशाखाओं पर फुदकता रहता था। तभी तो वह न्यग्रोध वृक्ष इतना अच्छा लग रहा था मुझे।

उस समय सूर्यदेव उदित हो रहे थे। पूर्व दिगन्त रक्तिमराग से रंजित हो उठा था। देखते ही देखते शिप्रा का जल-प्रवाह तरल सुवर्ण की भाँति झिलमिल-झिलमिल करने लगा था। मैं शीघ्रता से जल में उतर पडा। वहुत देर तक स्नान करता रहा। अन्ततः सूर्य को अर्घ-प्रदान कर तट पर आया। स्नान से तन और मन 'दोनों ही हल्के महसूस हो रहे थे। न्यग्रोध वृक्ष उसी भाँति आदर सहित मुझे बुला रहा था। उस समय मैं कहाँ जाऊँगा, क्या करूँगा कुछ निश्चित नहीं कर पाया था। फिर भी पन्थशाला की ओर कदम बढाया। कल रात आहार नही जुटा पाया था। देखूँ आज कही ब्राह्मण भोजन का प्रवन्ध हो पाता है या नही। यदि नही हुआ तो आज भी निराहार ही रहना पडेगा। यही सब सोचता-सोचता चला जा रहा था। इस समय भी यदि कुछ खाने को नही मिला तो, फिर शिप्रातट पर सन्ध्या समय कथा वैठानी होगी। कुछ वृद्ध-वृद्धाएँ अवश्य ही आ जुटेंगी। साथ ही दक्षिणा भी मिल जायेगी, जिससे रात्रि भोजन भी कर सकूँगा। इन्ही सब चिन्ताओं से अन्यमनस्क-सा चला जा रहा था। इसी अन्यमनस्कता में आस-पास के दृश्यों को भी

देख नहीं रहा था। तभी एक क्षीण कण्ठ स्वर मेरे कानों में पड़ा—"भट्ट ! ओ भट्ट ! इधर देखो, पहचाना मुझे ?"

उस आवाज को सुनते ही जैसे चमक उठा। इस सुदूर उज्जयिनी में कौन पहचान सकता है मुझे, निश्चित न कर सका। क्योंकि मैं तो इसके पूर्व कभी यहाँ आया ही नहीं। किसी पूर्व परिचित से मिल पाऊँगा, यह भी नहीं सोच सका। फिर भी धावमान अश्व को जिस प्रकार वल्गा संयत करती है, उसी प्रकार उस ध्वनि ने मेरी चिन्तनधारा को सन्नद्ध कर डाला। मैंने पीछे मुड़कर देखा—एक ईषत् कमनीय रमणी मूर्त्ति मुझे पुकार रही थी। उसके मुख पर तारुण्य अवश्य था, पर तारुण्य की दीप्ति नहीं थी। नेत्र उज्ज्वल थे, किन्तु नेत्रों के चतुर्दिक एक कैसी काली स्याह रेखा फैली हुई थी। और देखा, चेहरे पर जो हास्य बिखरा हुआ था, उसमें आकर्षण तो था किन्तु आसक्ति नहीं थी। ममता थी पर मोह नहीं था। मैं लौटकर उसके समीप पहुँचा। वह झट कह उठी—"क्यों भट्ट ! तुम भी मुझे नहीं पहचान पाए ?"

मैं उसे पहचानने की कोशिश करने लगा किन्तु, नहीं पहचान पाया। अचानक स्मरण आया। एक पल के लिए तो मैं विस्मय से अभिभूत हो गया फिर हर्षोल्लास से चीत्कार कर उठा—"रदनिका, तुम यहाँ ?"

रदनिका अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से देखती हुई मानो भर्त्सनापूर्वक बोली—"लगता है तुम इस राजपथ पर भीड़ इकट्ठी करोगे। धीरे बोलो ना।" तदुपरान्त—"आओ" कहती हुई मुझे स्वयं का अनुसरण करने का संकेत किया।

रदनिका का यहाँ संक्षिप्त परिचय दे दूँ। जिन दिनों मैं श्रावस्ती की एक नाट्य-मण्डली में अभिनय कर रहा था, रदनिका भी उसी में सम्मिलित होने आई थी। वैसे रदनिका एक प्रकार से सुन्दर ही थी। फिर भी उसका जो कुछ मुझे विशेष प्रिय लगता, वह थी उसकी आँखें और अंगुलियाँ। ऐसी दीप्तिमय आँखें मैंने बहुत कम ही देखी थी। फिर अभिनय और नृत्य में प्रणामागुलि या पताका मुद्रा को सफल करने के लिए पतली-पतली अंगुलियों का प्रभाव भी तो अद्भुत लगता है। शायद अधिकारियों ने यही सब देखकर उसे मण्डली में सम्मिलित कर लिया था। रदनिका का पूर्ण परिचय मुझे सामान्य-सा ही ज्ञात था। अधिकारी से जो कुछ जान पाया, वह मात्र इतना ही था कि छोटी उम्र में ही उसने अपने पति को खो दिया था। तत्पश्चात् वह अधिक दिन तक घर पर नहीं रह सकी। अन्ततः नाट्य-मण्डली में सम्मिलित हो गयी।

यह तो मैं पूर्व ही कह चुका हूँ कि मैं सुन्दर था और मेरा कण्ठ सुरीला था। इसीलिए अधिकारी मुझे अधिकांशतः राजा का अभिनय करने को देते। उस समय नाटक के नायक राजा ही होते थे, अतः मैं ही नायक रहता। रदनिका के आने के बाद उसे वे मेरी नायिका के रूप में प्रस्तुत करते। अभिनय के समय वह भी जिस प्रकार मेरे प्रति प्रणयावेग सम्पन्न वाक्य बोला करती मैं भी उसी प्रकार प्रणयावेग सम्पन्न उच्छ्वास व्यक्त करता। वह पूर्णतः कृत्रिम था यह आज नहीं कह सकता। क्योंकि इस विषय में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक सजग होती हैं। अतः एक दिन जब मैं अभिनय के पश्चात् नेपथ्यशाला में लौटा तो रदनिका भी उसी प्रकार समस्त वस्त्राभूषणों से सुसज्जित

मेरे सम्मुख आकर खडी हो गयी। मुहूर्त मात्र में मेरे मानस-समुद्र पर विक्षोभ का झंझावात प्रवाहित-सा हो गया। मैंने आग्रहपूर्ण कंठ से पुकारा—"रदनिका!" रदनिका मेरे मुख की ओर देखने लगी। उसका वाँया हाथ कटि-प्रदेश पर न्यस्त था। ककण खिसक कर नीचे उतर आए थे। दाहिना हाथ शिथिल श्यामलता की भाँति लटक रहा था। देह लता नृत्य-भगिमा में ईषत्-आनत थी। मुखमण्डल श्रम-विन्दुओं से आपूरित हो उठा था। इच्छा हुई उसे अपनी वाहो में भर कर आदर करूँ। क्योंकि, यह मैं जानता था इससे वह कुपित नही होगी। फिर भी उस इच्छा का मैंने दमन कर लिया। स्वय को सवरण मै सदैव ही कर सकता था किन्तु, नाट्याभिनय के समय उसकी प्रशस्ति में जो श्लोक वोला था—उसकी आवृति अवश्य की। उसके सुकोमल अधरो पर स्मित हास्य रेखा फूट पडी। एक पल के लिए नेत्र निमिलित हो गए। तभी उसके शिथिल कवरी सभार से धरती पर एक मल्लिका पुष्प झर पडा। तत्क्षण उसे इस अपराध का दण्ड भी मिला। रदनिका पदागुष्ठ से उसे कुचलने लगी। उस समय रदनिका का जो अद्वितीय रूप विकसित हो रहा था उसका वर्णन करने में किसी कवि की लेखनी भी समर्थ नही। न जाने क्यो उस रूप को देखकर भय की ठण्डी-सी लहर मेरे मन में उठी, पर दूसरे ही क्षण मै खिलखिला कर हॅस पडा। मेरी उस हॅसी से रदनिका ने अपनी आँखें ऊपर उठायी। देखा—इसवार वे अश्रुपूरित थी। धीरे-धीरे वह वहाँ से चली गयी। और मै ? उस दिन जो नाट्य-मण्डली का परित्याग किया तो आज पर्यन्त किसी भी नाट्य-मण्डली में सम्मिलित नही हुआ।

रदनिका का अनुमरण करता हुआ मैं एक प्रकोष्ठ में पहुँचा।

उसने जमीन पर एक आसन विछाकर मुझे वैठने का सकेत किया। मेरे वैठ जाने पर वह भी मेरे ही सम्मुख वैठ गयी। मैं रदनिका की ओर देख रहा था। उस दिन की वात मेरे मानसपटल मे घूम रही थी। किन्तु रदनिका ने ही मुझसे प्रथम प्रश्न किया। वोली—"भट्ट! तुम उस दिन श्रावस्ती से इस प्रकार क्यो भाग गए थे?"

देखा—रदनिका के नेत्र उस दिन की भाँति ही अश्रुपूरित थे। मैंने नेत्रो को झुकाकर प्रत्युत्तर दिया—"न जाने क्यो?"

उस दिन सचमुच ही नही जानता था। किन्तु, आज जाति-स्मरण ज्ञान के कारण समझने में समर्थ हूँ। मेरे अवचेतन मन में कही प्रद्योत के क्षतस्थान पर प्रलेप में निरत देवदत्ता और शुक पक्षी की निहत देह अंकित हो गयी थी। इसीलिए रदनिका को उस दिन उस रूप में देखकर भयभीत हो उठा था। एवं दूसरे ही क्षण खिलखिलाकर हँस पडा क्योंकि, संसार इसी प्रकार विचित्र है। मैंने जो कुछ किया, इस पर मेरा अधिकार नहीं था। रदनिका ने क्या सोचा यह मैं नही जानता। पर आश्चर्यचकित हो गया उस समय, जव उसने कहा—"भट्ट! उस दिन तुमने मेरे लिए ही श्रावस्ती का परित्याग किया था। तुम्हारे इस प्रकार चले जाने के पश्चात् मैंने भी फिर नायिका का अभिनय नही लिया।" देखा—दो विन्दु अश्रुजल उसके कपोलो पर ढुलक पडे। शीघ्रता से उसने उन्हे पोंछ डाला। फिर हँसने का प्रयास करती हुई वोली—"भट्ट! तुम पुनः नायक का अभिनय करोगे?"

वातावरण न जाने कैसा वोझिल-सा हो गया था। उसे कुछ हल्का करने के लिए ही सहसा वोल उठा—"अगर तुम नायिका का अभिनय लो तो अवश्य ही।"

अश्रुओ के मध्य भी रदनिका हँस पडी। वोली—"उस दिन ही पहचान गयी थी तुम्हें। अतः तुमसे मुझे कोई भय नही है। तुम्हारे लिए मे भी पुनः नायिका का अभिनय करूँगी।" फिर कुछ रुककर वोली—"हमारी नाट्य-मण्डली पालक के जन्म-दिवस पर यहाँ नाटक करने आयी थी। अधिकारी ने मुझे नायिका का अभिनय करने के लिए कहा। किन्तु, मैने अस्वीकार कर दिया था। पर यदि तुम नायक का अभिनय ले लोगे तो वे सचमुच ही प्रसन्न हो उठेंगे।"

रदनिका के लिए हृदय में न जाने कैसी एक व्यथा की अनुभूति हुई। वोला—"अधिकारी की प्रसन्नता से मेरा कोई तात्पर्य नही है। यदि तुम प्रसन्न होती हो तो अवश्य ही नायक का अभिनय करूँगा।"

रदनिका आनन्द-विह्वल हो करतल ध्वनि कर उठी। उसी करतल ध्वनि को सुनकर अधिकारी ने कक्ष में प्रवेश किया और शायद उन्हें यह भी खवर मिल गयी थी कि रदनिका किसी को साथ लेकर आई है। मुझे तो वे देखते ही पहचान गए। मै उसी क्षण उठ खडा हुआ एवं रदनिका भी उठकर खडी हो गयी। उन्होने प्रेमावेश मे मुझे छाती से लगा लिया। वोले—"भट्ट। उस दिन तो तुमने खूव किया।"

वोला—"अदृश्य को जो स्वीकार था।" तभी रदनिका उच्छ्वसित कण्ठ से वोली—"सोमशर्मा। यह नायक का अभिनय करने को सहमत है, मै भी नायिका का अभिनय करूँगी।"

वे हम दोनो के मुख की ओर देखने लगे। क्या समझे कह नही सकता। मात्र "वहुत अच्छा, वहुत अच्छा" कहते हुए कक्ष से वाहर निकल गए। जाने के पूर्व फिर एक वार मुडकर देखा। वोले—"भट्ट ! तुम कहाँ ठहरे हो ?"

वोला—"पन्थशाला में।"

"वहाँ क्यों? यहाँ आ जाओ न।"

रदनिका ने भी यही कहा। अतः मैं सहमत हो गया। अव ब्राह्मण भोजन की व्यवस्था भी नहीं करनी थी। अधिकारी के जाते ही कक्ष के वाहर आया। रदनिका से कहा—"पन्थशाला जाकर आता हूँ।"

रदनिका वोली—"कव लौटोगे?"

वोला—"मध्याह्न के पूर्व ही।"

पन्थशाला से वाजार होता हुआ जव लौट रहा था, सहमा शार्वलिक से भेंट हो गयी। मुझे देखते ही वह मेरे पैरों से लिपट गया। वोला—"जव आप से साक्षात्कार ही हो गया है तो अव नहीं छोड़ूँगा। आपको मेरे घर पदार्पण करना ही होगा। वहुत समीप ही है यहाँ से मेरा घर।"

वहुत समझाने पर भी जव वह नहीं माना तो उसके घर गया। देखा—घर एकदम श्रीहीन-सा था। मात्र एक प्रकोष्ठ था। खाट-पलग जैसी वस्तुएँ कहीं भी नहीं थी। थी एक मलिन शय्या और कुछ आवश्यक वस्तुएँ। वे भी विशृङ्खल-सी इधर-उधर विखरी थी।

उसके घर में प्रवेश करते ही मैं वोला—"कल तुम अपनी गृहिणी की वात कह रहे थे ना, कहाँ है वह? देख तो नहीं रहा हूँ।"

शार्वलिक ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। उसकी आँखों में आँसू भर आए। कुछ रुककर वोला—"कल रात कहीं चली गयी। मेरे लिए भी अव कोई वन्धन नहीं है। मैं वौद्ध-भिक्षु होना चाह रहा था। अव निष्कण्टक हूँ।" फिर वस्त्र में लिपटी एक वस्तु निकालते हुए कहने लगा—"देव! जिसलिए आपको कष्ट दिया, वह यह है" कह कर वस्त्राभरण में से एक चन्दन मूर्त्ति वाहर निकालकर मेरे हाथों में दी।

बोला—"यह मूर्त्ति मेरी पत्नी राज्यान्तःपुर से लायी थी। वह महारानी देवदत्ता की परिचारिका थी। अब मैं क्या करूँगा इसे रखकर। अतः आप इसे ग्रहण कीजिए।"

मैं उस मूर्त्ति को देखने लगा। चन्दन की सुगन्ध आ रही थी। किन्तु उस मूर्त्ति को देखते-देखते मेरी भाव-स्थिर चेतना आलोड़ित हो उठी। मेरी उस भाव-स्थिति को देखकर शार्वलिक बोला—"आर्य! आपने मेरा जो उपकार किया था उसके परिशोध में यह मूर्त्ति आपको नहीं दी है। मैं भिक्षु उपगुप्त से दीक्षा ग्रहण करने जा रहा हूँ। अतः आपको देखकर मुझे इस मूर्त्ति का स्मरण हो आया। इस मूर्त्ति के लिए आपसे उत्तम पात्र अन्य कौन हो सकता है?"

सोचने लगा—मैं भी इस मूर्त्ति को लेकर क्या करूँगा? फिर भी उस मूर्त्ति को लिए ही अधिकारी के यहाँ पहुँचा।

वह मूर्त्ति मैंने रदनिका के हाथों में दी। बोला—"यह चन्दन मूर्त्ति तुम रखो। एक जुआरी ने मुझे दी है।" फिर कल रात से आज तक की समस्त घटना उसे बतायी। रदनिका ने बड़े ही भक्ति भाव से उस मूर्त्ति को ग्रहण कर उसे कक्ष के अलिन्द में स्थापित कर दिया।

अभिनय-रात्रि में अभी कुछ दिन शेष थे। अतः मेरे पास पर्याप्त समय था। अवसर का लाभ उठाकर मैं यत्र-तत्र घूमने लगा। इस भ्रमण में मैंने अवन्ती और उज्जयिनी के कई तथ्यों को संग्रहित किया। गोप आर्यक की बात भी मेरे कानों में पहुँची। ऐसा लगा जैसे समग्र राज्य ही एक विस्फोट के मुख पर खड़ा है। कब वह विस्फोट हो जाए कुछ ज्ञात नहीं। मन में हुआ पालक के जन्म-दिवस पर जिस रात हम अभिनय करेंगे उसी दिन कुछ न हो जाए। मैंने अपनी यह आशंका

रदनिका को वताई। रदनिका वोली—"मव कुछ शान्तिपूर्वक ही हो जाए तो अच्छा है।" पर कहाँ हुआ शान्तिपूर्वक? अभिनय देखने के लिए आते समय ही पालक छूरिकाहत हो गया। प्रासाद अवरुद्ध हो उठा। अभिनय हो नही पाया। नट होने के कारण हमारे प्राणो की तो रक्षा हुई।

दूसरे दिन सुवह ही रदनिका से विदा ली। मैने तक्षशिला जाना स्थिर किया था। वहाँ से दूरारोह पर्वत श्रेणियो का अतिक्रम कर मध्य एशिया के नगरो को देखने की इच्छा थी। रदनिका सुनते ही रो पडी। बोली—"क्यो जा रहे हो? हमारे दल के साथ ही रहो न।"

मुझे ऐसा लगा जैसे रदनिका के चेहरे के पास ही मेरी माँ का चेहरा भी प्रस्फुटित हो गया है। माँ भी तो मुझे इसी प्रकार बाँधकर रखना चाहती थी। पर मेरी नियति कुछ अन्य थी। काश! उस दिन जान पाया होता रदनिका ही मेरी देवदत्ता थी।

फिर भी आज मुझे इस बात का संतोष है कि भगवान महावीर की वह चन्दन मूर्त्ति मैने यथास्थान पहुँचा दी थी।

चतुर्थ उच्छ्वास

कल-कल ध्वनि में मुखरित कुभु तीव्र गति से प्रवाहित हो रही थी। इसके दक्षिणी तट से ही प्रारम्भ होता था पहाड। किन्तु वायी ओर अत्यधिक ढालू होने पर भी वह उपत्यका अधिक प्रशस्त लग रही थी। दूर से तो मात्र गहरे सब्ज रंग के उत्तुंग पाइन वृक्षराजि की काली छाया के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगत नही हो रहा था। पर निकट आते ही लगा इसके सूच्याग्र पत्र विशिष्ट शाखाएँ नीचे से क्रमशः छोटी होती हुई ऊपर की ओर उठ गयी हैं। पाइन वृक्षो के नीचे विस्तृत थी विभिन्न किस्म की वनस्पतियाँ। उस समय ग्रीष्म शेष होकर वर्षा प्रारम्भ हो गयी थी।

कुभु के वायें तट पर मैं पैदल ही चल रहा था। लक्ष्य था भारतवर्ष। मैं वहाँ कितने दिनो में पहुँचूँगा यह नही जानता था, पर भारतवर्ष मुझे जाना ही था। अतः मध्य एशिया के फरगना की सब्ज उपत्यकाओं को छोडकर एकाकी ही आगे वढ रहा था। सार्थवाहो के पथ से होता हुआ कई मास से यह पदयात्रा कर रहा था। कितने दिन और इसी प्रकार चलना था यह भी तव ज्ञात नही था।

मध्य एशिया की फरगना की उपत्यका के विषय में कौन नही जानता? काश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य से जिनका परिचय है वे

फरगना के प्राकृतिक सौन्दर्य की भी कल्पना कर सकते हैं। स्थान-स्थान पर प्रवाहित नदियाँ, मुखरित झरने और दूर-दूर तक विस्तृत चारागाहो को देखकर लगेगा जैसे धरती पर स्वर्ग ही उतर आया है। इसी फरगना के महापितर कृच्छाश्व के घर मेरा जन्म हुआ था। मेरे पिता कुरुओ के महापितर थे। उनके पास पाँच सौ से अधिक अश्व, गायें, वकरियाँ और भेडें थी। हमारे ग्राम में करीव पाँच सौ परिवार निवास करते थे। उनमें यदि कोई कलह-विवाद हो जाता तो निर्णय एवं अनुकूल व्यवस्था के लिए उन्हे ही जाना पडता था। युद्ध-विग्रह होने पर सैन्य दल की परिचालना भी वे ही करते। वस्तुतः युद्ध की सफलता पर ही उन दिनो महापितर पद लभ्य था।

इन महापितर का मै एकमात्र पुत्र था। मेरा नाम था अमृताश्व। मेरी कोई अपनी वहन नही थी। मेरे मामा की कन्या मधुरा हमारे घर पर ही रहती थी। वह छाया की भाँति सदा मेरे साथ-साथ रहती। शायद उसे मुझसे प्रेम था। हमारे समाज में मामा की कन्या के साथ विवाह निन्दनीय नही वल्कि काम्य था। अतः उससे मेरा विवाह भी हो जाता, क्योंकि मै वलिष्ठ और रणकौशली था। पिता की मृत्यु के वाद मै ही कुरुओ का महापितर वनता। पर वह विवाह हो न सका। क्यो न हो सका वही लिखने आज वैठा हूँ।

उस दिन झरने के किनारे लेटा नीले आकाश की ओर देखता हुआ आकाश से पाताल तक न जाने क्या-क्या सोच रहा था तभी मधुरा ने आकर एक पुलिन्दा-सा दिया। उठकर उसे पकडा। मधुरा वोली—"पाँचाल देश के राजकुमार ने यह तुम्हें उपहारस्वरूप भेजा है।"

मैने तुरन्त उसके आवेष्ठन को खोला। देखा—उसमें थी एक अपूर्व सुन्दर चन्दन मूर्त्ति। पाँचाल देश के राजपुत्र ने हठात् मुझे यह मूर्त्ति क्यों भेजी, कुछ सोच ही नही पाया। उस समय भारतवर्ष के साथ हमारा व्यावसायिक लेन-देन होता था। सार्थवाहगण यहाँ से लवण पशमादि लेकर जाते एवं भारतवर्ष से मणि-मुक्ता एवं रत्नाभरण आदि लेकर लौटते। समय-समय पर मेरे पिता पाँचालराज को उपहार भेजते। वे भी उसके बदले मेरे पिता को उपहार भेजते। लगा—उसी सूत्र में पाँचाल के राजकुमार ने मुझे वह मूर्त्ति भेजी हो। मै सोचने लगा—क्या करूँगा मैं इस मूर्त्ति को लेकर? कहाँ रखूँगा मै इसे?

मधुरा बोली—"बहुत सुन्दर है न यह मूर्त्ति?"

मैने कहा—"हाँ।" मूर्त्ति का कारुकार्य वास्तव में बहुत सुन्दर था।

मधुरा फिर बोली—"बहुत ही सौम्य है यह मूर्त्ति।"

ठीक ही तो कहा था मधुरा ने। पद्मासन में उपविष्ट ध्यान निमिलित नेत्र। इस प्रकार की मूर्त्ति मैने वहाँ कभी नही देखी थी। उस समय तो पद्मासन और ध्यान निमिलित नेत्र भी कहाँ जानता था। वह तो अब जान पाया हूँ। किन्तु उस दिन उस मूर्त्ति को देखकर मै अनजाने ही एक रहस्यलोक में खो गया। उस मूर्त्ति को देखते-देखते स्वप्नाविष्ट-सा हो गया।

उस दिन रात्रि को उसी मूर्त्ति को सम्मुख रखे प्रदीप के क्षीण आलोक में जब मै उसकी ओर अपलक निहार रहा था तो मन के अवचेतन में जो आलोडन उठा, उसमें मेरी समस्त चेतना ही लुप्त हो गयी। शायद मुझे नीद आ गयी थी। किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत हो

रहा था जैसे मै जाग रहा था—मेरी समस्त चेतना जाग रही थी। मै प्रत्यक्षवत् देख रहा था—एक विराट जनता। उसी जनता के मध्य खडा था मै। · पर उनमें मै किसी को भी नहीं पहचान पा रहा था। उनकी भाषा, वेष-भूषा सव कुछ ही पृथक थी। तभी एक रथ देखा। रथ तीव्र गति से गुजर गया। मुझे लगा उस रथ के दवाव में मेरे वक्षस्थल की हड्डियाँ चूर्ण-विचूर्ण हो गयी हों। मैने अपनी छाती पर हाथ रखा। नही-नही, मेरा कुछ चूर्ण-विचूर्ण नही हुआ था। मै जैसा था वैसा ही था। फिर पत्रवहुल एक वृक्ष देखा। जिसकी शाखा पर एक मृत पक्षी लटक रहा था। ऐसा वृक्ष और पक्षी मैंने कभी नहीं देखा था। नीद, लगा कुछ हल्की हो गयी थी, अतः करवट वदली। किन्तु पुनः स्वप्न देखा। एक ऊँचे पहाड से मै लुढकता जा रहा था। तभी एक जगह आकर रुक गया। पर मेरी मृत्यु नही हुई थी। इतने ऊपर से गिरने पर भी मेरे शरीर में कोई खरोंच तक नही आयी। किन्तु गिरने के कारण भयभीत था; अतः नीद टूट गयी। देखा, मै अपनी शय्या पर सोया हुआ था। मेरा गिरना और भयभीत होना सव कुछ भ्रम-सा लगा। सोचने लगा—अव और नही सोऊँगा। · पर न जाने कव आँख लग गयी। और फिर देखने लगा—इतने ऊँचे पहाड से गिरकर भी मै देह को झाडते हुए उठ खडा हुआ। फिर क्या देखता हूँ उसी पहाड पर खडी थी एक सुन्दर रमणी। वैसी रमणी इसके पूर्व मैंने कभी नही देखी थी। मुझे गिरते देखकर वह 'भट्ट' कहती हुई चीत्कार उठी एव मुझे पकडने के लिए उस पर्वत शिखर से झपटी। भय से मेरा समस्त शरीर रोमाचित हो उठा। मैने उसे पकडने के लिए वॉहे फैला दी। किन्तु उसे पकड न सका। वह मेरे

सम्मुख से होती हुई एक भयंकर गहर में चली गयी । मै चिल्ला पडा—
"रदनिका ।"

मधुरा पार्श्ववर्ती घर में सो रही थी । मेरी चीत्कार सुनकर दौडती हुई तुरन्त आयी । बोली—"क्या हुआ अमृत ? इस प्रकार क्यों चिल्ला पड़े ?"

मै शय्या पर उठ बैठा । बोला—"शायद स्वप्न देखा था ।"

"स्वप्न ? तब 'रदनिका' कहकर क्यो चिल्लाए थे ? क्या अर्थ है इस शब्द का ? हम लोगो की भाषा में तो रदनिका कोई शब्द ही नहीं है ।"

यह तो मै जानता था । पर क्यो रदनिका कहता हुआ चिल्लाया यह नहीं जानता था ।

सहगा मधुरा ने प्रश्न किया—"रदनिका क्या किसी स्त्री का नाम है ? क्या तुमने उसे स्वप्न में देखा था ?"

मुझे झूठ का आश्रय लेना पडा । बोला—"क्या स्वप्न देखा कुछ याद नही है, पर डर बहुत गया हूँ । देखो अभी तक मेरे शरीर के रोगटें खडे हैं ।"

मधुरा और कुछ नहीं बोली । धीरे-धीरे कक्ष से बाहर निकल गयी । किन्तु मै रदनिका को स्पष्टतया देख रहा था—उसके दीप्तिमय नेत्र, दीर्घ लम्बी नुकीली अगुलियाँ जैसे मेरा आह्वान कर रही थी । मै एक क्षण के लिए भी उसे नही भुला पा रहा था ।

मेरा यह भावान्तर सभी को ज्ञात हुआ । सभी उद्विग्न हो उठे ।

ओझा आया, मुझे झाड-फूँक गया, गुणी आया, औषध दे गया। पर हुआ किसी से कुछ नहीं।

पूर्व ही कह आया हूँ, मधुरा मेरी वहन होने पर भी जैसे मुझसे प्रेम करती थी। देखा—सबसे अधिक वही मेरे लिए चिन्तित थी। एक दिन आकर वोली—"अमृत! जिस दिन से यह चन्दन मूर्त्ति घर में आयी है उसी दिन से तुम कैसे हो गए हो। अतः अव इस चन्दन मूर्त्ति को घर में मत रखो। जल में फेंक दो।"

पर मै वह मूर्त्ति जल में नही फेंक सका ओर न घर पर ही रह सका। कई दिनों से मेरे मन में एक धारणा वद्धमूल हो गयी थी कि यदि भारतवर्ष जा सका तो अवश्य रदनिका को देख पाऊँगा। अतः रदनिका को देखने की आशा मे उस चन्दन मूर्त्ति को छिपाए-छिपाए एकदिन चुपचाप घर का परित्याग कर दिया। पूछने पर कोई मुझे भारतवर्ष नही जाने देता। तव से वस मै केवल चल रहा था। कुभू की वह कल-कल ध्वनि आज भी मेरे कानो में ध्वनित हो रही है।

दोपहर हो गयी थी। धूप में चलने के कारण पिपासार्त्त हो उठा था। अतः चढाई के मुखपर जव एक सूक्ष्म रूपहला झरना देखा तो उसके निकट ही खडा हो गया। समीप ही अंगूरलता पर अंगूर लटक रहे थे। पहले वे अंगूर तोडकर खाने लगा। कच्चे अंगूर कुछ खट्टे होते हैं फिर भी पिपासार्त्त अवस्था में सहसा जल पीना क्षतिकर समझकर पहले अगूर ही खाने लगा।

उसी समय पीछे से लकडी के घण्टे की आवाज आयी। और एक ही साथ झाडी में से पीठ पर दोनो ओर झोला लटकाए एक खच्चर

वाहर आया। उसके पीछे थी एक पोडशी तरुणी। उसकी देह पशम के पतले कम्वल से ढकी थी। कम्वल के दोनों सिरे दाहिने कंधे पर ग्रथित होकर इस प्रकार बँधे थे कि मात्र दाहिना हाथ, कंधा और छाती का अर्द्धांश छोड़कर समस्त शरीर आवृत था।

उस अपरिचिता का खच्चर जिस समय पानी पी रहा था वह अपनी पीठ पर बँधी टोकरी खोलने लगी। मैंने सम्मुख जाकर उस टोकरी को नीचे उतारने में उसकी सहायता की।

वह तरुणी मुस्कुराने लगी। कृतज्ञता ज्ञापन कर वोली—"आज गर्मी अधिक है।"

वोला—"हाँ, फिर भी तुम्हे पैदल चल कर आने के कारण अधिक गर्मी लग रही है।"

वह कुछ सोचने लगी। फिर वोली—"यहाँ का यह मौसम वहुत अच्छा होता है।"

क्या उत्तर देता। केवल वोला—"हाँ।"

वह फिर वोली—"तुम तो यहाँ के निवासी नही हो न? कहाँ रहते हो तुम? अभी कहाँ जा रहे हो?"

फिर सत्य छिपाना पडा। वोला - "मै कुभु अधित्यका के उत्तर में रहता हूँ। अभी भारतवर्ष जा रहा हूँ।"

भारतवर्ष का नाम सुनते ही वह विस्फारित नेत्रों से मेरी ओर देखने लगी। फिर वोली—"मेरा एक भाई दस वर्ष हुए भारतवर्ष गया है, पर अभी तक नही लौटा। यदि वह तुमसे मिले तो मेरी चर्चा करना।"

बोला—"निश्चय ही करूँगा। किन्तु उसका नाम ?"

"उसका नाम है पुरुहूत।" तदुपरान्त टोकरी में से गेहूँ की रोटियाँ निकालकर मुझे पकड़ाई। बोली—"खाओ।"

केवल सूखी रोटी। किन्तु खाने पर लगा जैसे अमृत। कई दिनो से मात्र सत्तू खाकर रहता था। रोटी कही नही मिली थी। उन रोटियो को खाकर शीतल जल पान किया। खच्चर भी तब तक पानी पीकर विश्राम कर चुका था। मै उठ खड़ा हुआ। पूछा—"तुम्हारा नाम ?"

"रोचना दक्षिण मद्र।"

पथ के मोड़ से रोचना मद्र के अदृश्य हो जाने पर मैंने भी पुनः पदयात्रा प्रारम्भ की। किन्तु मै तो भ्रमण वृतान्त लिखने नही बैठा हूँ। अतः पथ विवरण देकर पाठको को धैर्यच्युत करना नही चाहूँगा। मै रदनिका को खोजने निकला था। अतः रदनिका के विषय में ही कहूँगा।

दुर्गम पथ अतिक्रम कर अन्ततः एक दिन भारतवर्ष में प्रवेश किया। पुरुषपुर होता हुआ पहुँचा पाञ्चाल राज्य में। पाञ्चाल राजपुत्र से मिला। उन्होने मेरा आदर-सत्कार किया, बहुत-सा धन-रत्न दिया किन्तु, रदनिका के विषय में कुछ नही बता सके। मै पांचाल राज्य से होता हुआ कोशल मे पहुँचा और आगे निरन्तर चलता ही रहा। ऐसा कोई ग्राम, जनपद और नगर नही था जहाँ मैंने रदनिका का अनुसन्धान नहीं किया। कृषकों की पर्णकुटी से लेकर क्षत्रिय राजन्य के अन्तःपुर तक खोजता चला जा रहा था। किन्तु कहाँ थी रदनिका ? तो क्या वह मात्र स्वप्न ही था या स्मृति ? पर मै कही भी टिक न सका। चलता ही रहा। अलम्भिया होता हुआ मगध, मगध से अंग देश की राजधानी

चम्पा। चम्पा से पुनः उत्तर की ओर बढा। विदेह की मिथिला से कपिलवस्तु, वहाँ से श्रावस्ती।

जिस दिन श्रावस्ती पहुँचा, उस दिन फाल्गुनी पूर्णिमा थी। वह दिन प्रमत्त मदनोत्सव का दिन था। प्रभात से ही सुन रहा था नगरवासियो की करतल-ध्वनि, मधुर संगीत और गुँजरित मृदग शब्द। मधुमत्ता नगर विलासिनियाँ राजपथ से जो भी गुजरता उस पर शृंगक से रंगीन वारि वर्षण कर रही थी। अवीर के ढेर से उडती हुई गुलाबी अवीर ने दशों दिशाओं को रंग डाला था। समृद्धिशाली भवनो के प्रागण में स्थित धारायंत्रों से उत्क्षिप्त जल ले-लेकर शृंगक भरने वालों की भीड लगी थी। इन सभी स्थानों मे नगर विलासिनियो के अनवरत आवागमन ने उनके सीमन्तो से और कपोलो से झरते हुए सिन्दूर और अवीर से समस्त पथों एव गृह-प्रागणों को जैसे अवीर और सिन्दूरमय कर डाला था। उन शृंगकों के जल और अवीर से मैं भी नही वच सका। मुझे अपने देश का इन्द्रोत्सव स्मरण हो आया। उस दिन हम लोग भी इसी भाँति सुन्दर-सुन्दर साजो से सज्जित होते। सुदीर्घ केशों को नाना-वर्णीय पुष्प मंजरियों से सुशोभित करते। इन्द्रोपासना के लिए यज्ञ में अश्व की वलि देते। यद्यपि साधारण रूप में हमलोग अश्व-मास भक्षण नही करते थे किन्तु उस दिन प्रसाद रूप में ग्रहण करना पडता था। संध्या के समय ग्राम के सभी तरुण-तरुणियाँ एक स्थान पर एकत्रित होते, क्योंकि वह रात्रि स्वच्छन्द विहार की रात्रि होती थी। इच्छानुसार प्रणय और कामभोग की रात्रि। उस दिन स्वपत्नी को अन्य के साथ प्रणयरत देखकर भी रंज प्रकट नही कर सकते थे। उस सुदूर श्रावस्ती में भी मैंने उसी की पुनरावृत्ति देखी।

मै समस्त दिन इस पथ से उस पथ, इस सरणी से उस सरणी घूमता रहा। मेरी पूरी देह जल में भीगी थी। शरीर का वर्ण ही रक्तवर्ण हो उठा था। केशो में थी राशि-राशि अवीर। फिर भी उस उन्मत्त भीड में रदनिका को खोजता फिर रहा था। न जाने कहाँ, किस जगह, कब उसका साक्षात्कार हो जाए? अन्ततः संध्या के समय जन-गण के साथ ही मैने भी नगर उद्यान में प्रवेश किया।

आकाश में चन्द्र उदित हो गया था। उसकी उज्ज्वल कौमुदी धारा मदिरा की भाँति मादकता लिए प्रवाहित हो रही थी। सर्वत्र थी प्रेम की अभिनव खुमारी। युग्म तरुण-तरुणिगण भ्रमण करने निकले थे। उनके विह्वल कण्ठ-स्वर कानों को आपूरित कर रहे थे। आवेश में झूमती हुई सुन्दरियो की केश-राशि से मन्दार कुसुम झर-झर पडते थे। कानों में सज्जित सोनाली चम्पक खिसक-खिसक कर भू-लुण्ठित हो रहे थे। हृदय देश पर वार-वार आघात लगने से वडे-वडे गन्धराज पुष्प कण्ठमाला से पृथक होकर इधर-उधर गिरते जा रहे थे। मै उन्ही के मध्य से गुजर रहा था। देखा—कई तरुण-तरुणियाँ सामूहिक नृत्य कर रही थी। तरुणियो के कानों में थे नवकर्णिका के पुष्प, केश-राशि पर अशोक स्तवक, कपोलों पर निष्कम्प अंगुलियो द्वारा अंकित सुचित्रित चित्रक। उनका गौरवपूर्ण मुख-मण्डल कुँकुम वलयित होने पर हमारे देश की किशोरियों की भाँति ही आरक्तिम लग रहा था। पर उनके मध्य भी मै रदनिका को नही पा सका।

एक निकुँज से निकलकर मै दूसरे निकुँज की ओर जा रहा था, तभी सहसा युवतियों के एक दल ने आकर मुझे घेर लिया। उनके कपोल तो आरक्तिम थे ही, अत्यधिक मद्यपान के कारण नयनद्युति भी

और अधिक गहरी हो गयी थी। नृत्यभंगी में जब वे अपनी बाहुलताओं को आकाश में उत्क्षिप्त करती तो मुझे लगता जैसे उनके समुत्सुक वलय उच्छलित होकर चन्द्रमंडल को पृथ्वी पर चिर दिन के लिए बन्दी बना डालेंगे। उनकी कनक मेखलाओं से विच्छुरित हीरक द्युति उनके कटि-प्रदेश को घेर कर इस प्रकार सुशोभित हो रही थी, मानो अनुराग वह्नि ने प्रदीप्त होकर उन्हें वेष्टित कर डाला हो। मुझसे वे क्या आशा कर रही थीं यह तो मैं नहीं जानता पर लगा शायद वे सोच रही थीं, मैं भी उनके नृत्योत्सव में योग दूँ। किन्तु, मुझे मूढ की भाँति खड़ा देखकर "बर्बर-बर्बर" चीत्कार करती हुई दूर सरक गयी। उनके नीले, वासन्ती, चित्रक और कौस्तुभ वस्त्रों के उत्तरीय पुनः नृत्य में तरंगायित होने लगे। किन्तु, उनके मध्य भी मैं रदनिका को न पा सका।

क्या करूँ, क्या न करूँ, सोचते-सोचते उद्यान के एक ऐसे प्रान्त में पहुँच गया जहाँ जन-बाहुल्य नहीं था। मैं बेसुध-सा चल रहा था। उस समय मध्य रात्रि व्यतीत हो चली थी। अतन्द्र चन्द्र की सुधा-धवल कौमुदी धारा उसी प्रकार अविरल बरस रही थी। दूर से कल कास्य और कोशी की मनोहर ध्वनन के साथ निरन्तर बजते हुए तन्त्रीपटह का गुरु गम्भीर शब्द वायु-मण्डल में प्रवाहित हो रहा था। इसी समय पारिजात निकुंज के निकट अर्द्धआलोक एवं अर्द्धछाया में दंडायमान एक रमणी पर मेरी दृष्टि पडी। देखते ही मैं उसे पहचान गया। इसी के लिए तो मैं पृथ्वी के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक भटक रहा था। उसे अचानक पाकर मेरी जो मनःस्थिति हुई उसे आनन्द, विस्मय, विह्वलता आदि किसी भी शब्द के द्वारा व्यक्त नहीं कर

सकूँगा। मैं दौडकर उसके समीप पहुँचा। आवेग भरे कण्ठ से पुकारा—"रदनिका।"

वह विस्मित-सी मेरे मुख की ओर देखने लगी। देखा—वही दीप्तिमय नेत्र। वैसी ही लम्बी-लम्बी नुकीली अंगुलियाँ। मैंने आवेश में उसका हाथ पकड़ते हुए कहा—"रदनिका! तुम यहाँ?"

रदनिका बोली—"जी! मैं रदनिका नही, अपाला हूँ। क्षत्रिय मल्ल की पत्नी।"

यह सुनते ही धीरे-धीरे मैने उसका हाथ छोड दिया। पुनः उसकी आँखो को देखा, अंगुलियों का पर्यवेक्षण किया। फिर उसकी ओर देखकर बोला—"नहीं, तुम अपाला नही रदनिका हो। तुम्ही को पाने के लिए मैं फरगना से भारत आया हूँ। दीर्घ एक वर्ष से भी ऊपर हो गया मुझे इसी प्रकार पदयात्रा करते। अन्ततः इस श्रावस्ती में तुम्हें पा सका। मैं भट्ट हूँ। क्या तुम मुझे नही पहचान पा रही हो?"

अपाला कुछ सोचने लगी। किन्तु कुछ याद कर सकी, ऐसा नही लगा। बस स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देखती रही। मैं तो जैसे उसके नेत्रों की अतलता में डूबा जा रहा था। बोला—"रदनिका! मै पर्वत शिखर से गिर गया था। तुम मुझे पकडने के लिए जैसे ही झुकी कि तुम भी नीचे गिर पडी। मैंने तुम्हे पकडना चाहा ··पर पकड न सका। ·· सोचो ··कुछ याद आ रहा है?"

अपाला और अधिक विस्मित हो गयी। मै क्या कह रहा था वह कुछ समझ ही नही पा रही थी। शायद सोचा होगा—मै अधिक मात्रा में माधुकी पान किये हुए हूँ। रदनिका न जाने क्या कहने जा ही

रही थी कि किसी का कर्कश कण्ठ-स्वर सुनायी पड़ा—"अपाला ! भोर हो गया है। अब घर चलो।"

मैंने आकाश की ओर देखा। देखा—आकाश स्वच्छ होने लगा था। मुर्गे बाँग दे रहे थे।

मैं भावावेश में इतना अभिभूत था कि यह देख ही नहीं पाया पारिजात निकुंज के समीप ही एक प्रौढ दूर खड़ा मेरी ओर तीक्ष्ण दृष्टि से अविरल देख रहा है। इस बार उससे दृष्टि मिलने पर लगा, जैसे उसकी आँखें अग्नि वर्षा कर रही थीं।

अपाला उस प्रौढ का अनुसरण करती हुई चली गई। जाते-जाते एक बार पुनः मुड़कर मेरी ओर देखा। उस दृष्टि से मुझे लगा जैसे वह मुझे पहचान गई थी। मैं भी यंत्र-चालित-सा उसका अनुसरण करता चलने लगा।

रदनिका का घर देख आया था। किन्तु उसके घर में प्रवेश कैसे करूँ, यही सोच रहा था। उसी समय चन्दन मूर्त्ति स्मरण हो आयी। टटोल कर देखा वह जहाँ थी, वहीं थी। सोचने लगा—यदि इस मूर्त्ति को विक्रय करने के लिए क्षत्रिय मल्ल के घर जाऊँ तो क्या वह इसे देखने बाहर नहीं आएगी? और यदि नहीं आई तो? पर पर उसके सिवाय और कोई दूसरी राह भी तो दृष्टिगत नहीं हो रही थी। यह कार्य संकटापन्न है, यह मैं जानता था। किन्तु रदनिका को और एक बार देखने की इच्छा इतनी प्रबल थी कि उसके सम्मुख वह विपद भी तुच्छ लगी।

मध्याह्न अतिक्रम हो गया था। उस चन्दन मूर्त्ति को लिए धड़कते हुए हृदय से उस क्षत्रिय के घर में मैंने प्रवेश किया। दासी के द्वारा गृह-

स्वामी को अपने आने का उद्देश्य विदित करवाया। दासी ने लौटकर मुझे बैठने का सकेत किया। कुछ क्षण पश्चात् ही क्षत्रिय मल्ल ने कक्ष में प्रवेश किया।

मेरी आशा एक बारगी ही टूट गयी। किन्तु लौटने का उपाय नहीं था। उस चन्दन मूर्त्ति को उसके हाथों में देकर बोला—"मैं उत्तरमद्र से आया हूँ। भगवान महावीर की यह चन्दन मूर्त्ति अपनी पत्नी को दिखलाइए। शायद वे इसे खरीदना पसन्द करें।"

उसने चन्दन मूर्त्ति को हाथ में लेकर खूब अच्छी तरह निरीक्षण किया। फिर उसे सम्मुख रखी चौकी पर रख कर प्रश्न किया—"तुम्हें कितने दिन हो गए इस व्यापार को प्रारम्भ किये?"

प्रत्युत्तर देते समय मेरी जिह्वा जैसे जड हो गयी थी। देखा—उसकी दृष्टि अग्निवर्षण कर रही थी। वह मुझे पहचान गया था।

सहसा चीत्कार करता हुआ वह बोला - "लम्पट! रात को उसे देखने पर भी तेरी तृप्ति नहीं हुई जो सुबह होते ही उसे देखने आया है। इसका समुचित प्रतिफल तुझे आज ही मिलेगा"—कहते हुए दरवाजे की ओर इंगित किया। उसी समय दो भृत्यों ने आकर मेरा हाथ पकड़ लिया। तभी उन्हे आदेश मिला - "जाओ इसे ले जाओ। इसकी दोनों आँखें निकालकर इसे राह में छोड दो ताकि, यह अपनी पाप दृष्टि किसी अन्य स्त्री पर नही डाल पाए।"

मैं लम्पट हूँ! मेरे नेत्र निकाल दिये जायेंगे। तो क्या मैं रदनिका को पुन. नहीं देख सकूँगा? मैंने प्रतिवाद करना चाहा। किन्तु मेरे कण्ठ से कोई शब्द ही नहीं फूट सका। हाथ छुडाने की चेष्टा करने

लगा, पर छुड़ा न सका। पर मुहूर्त में ही वे मुझे एक अन्य प्रकोष्ठ में ले गये। वहाँ मुझे रज्जुवद्ध कर मेरे नेत्र निकाल डाले। लेकिन मुझे जैसे वेदना हुई ही नहीं। वस एक ही इच्छा थी कि दृष्टि खोने से पूर्व एक वार रदनिका को देख पाता। किन्तु अव अव तो सर्वत्र रदनिका को ही देख पा रहा हूँ। हाथ में यष्ठि लिए श्रावस्ती के पथ में भटक रहा हूँ। कल समस्त नगर प्रमत्त था। आज सवकुछ शान्त।

इसी समय किसी के हाथों ने मुझे दूर ढकेल दिया। वोला—"अन्धे कहीं के, देख नहीं पा रहे हो? जरा और आगे वढ़ते तो रथ के चक्र तले पिस जाते।"

मैंने उसका हाथ कसकर पकड़ लिया। वोला—"वन्धु! मै सचमुच ही अन्धा हूँ। देख नही सकता हूँ। तुम कौन हो?"

"मै हूँ पुरुहुत।"

"पुरुहुत? रोचनामद्र के भाई?"

"हाँ। किन्तु तुम उसे कैसे जानते हो?"

"मै? मुझे वह कुभु नदी के तट पर मिली थी। उसने तुम्हें उसकी खवर देने को कहा था। अच्छा हुआ तुम मिल गये।"

"तुम तुम कौन हो?"

"मै हूँ कुरु अमृताश्व।"

पंचम उच्छ्वास

मेरा नाम अतीश है।

मगध के प्रख्यात वात्सायन वंश में मेरा जन्म हुआ था, किन्तु मेरा आचरण वात्सायन वंश के अनुरूप नहीं हो पाया। पिताजी जिस समय वेदाध्ययन करवाते, मैं अपने गाँव से संलग्न अरण्यों में घूम-घूमकर लता गुल्मादि संग्रह करता रहता। शायद इसीलिए पिताजी ने भेषज शास्त्र पढ़ने के लिए मेरी नियुक्ति कर दी। सोचा था, जीवक कुमार-भृत्य की भाँति मैं भी, हो सकता है, किसी दिन प्रभूत ख्याति प्राप्त कर सकूँगा। हमारे गाँव में वैद्य श्रीनाथ शर्मा निवास करते थे। उन्हीं से मेरी शिक्षा प्रारम्भ हुई। वे सुशिक्षक थे। अतः मेरी शिक्षा समुचित ढंग से अग्रसर होने पर भी उनकी अचानक मृत्यु से मैं कूलहीन अगाध समुद्र में आ गिरा।

क्या करूँ, यही सोच रहा था, तभी रन्तिदेव स्मरण हो आए। वे पिताजी के परम मित्र थे। जब भी हमारे यहाँ आते, हमारे गृह में एक उत्सव-सा हो जाता। उन्होंने भेषज शास्त्र के साथ-साथ ज्योतिष का भी अध्ययन किया था। मेरे मन में भी ज्योतिष सीखने की प्रबल इच्छा थी। अतः यह बात मैंने पिताजी से कही। उन्होंने रन्तिदेव के नाम एक पत्र लिखकर मुझे दिया। उसी पत्र को लेकर एक शुभ दिन मैं श्रावस्ती यात्रा के लिए रवाना हो गया।

रन्तिदेव ने भी समादर सहित मुझे ग्रहण किया और एक क्षत्रिय के घर में रहने की व्यवस्था कर दी। वह घर मुझे अत्यन्त परिचित-सा लगा। ··पर मै तो पहली बार ही श्रावस्ती गया था।

वह घर परिचित-सा लगने पर भी मेरा वहाँ रहना सुखकर नही हो पाया। उसका कारण यह नही था कि क्षत्रिय सिंह का मेरे प्रति कोई दुर्व्यवहार था। उन्होंने तो मेरे लिए सर्वविध सुख-सुविधा की व्यवस्था कर दी थी। किन्तु, न जाने क्यो, प्रथम रात्रि से ही मुझे वहाँ भय-सा लगने लगा। पहली रात को ही अचानक मध्यरात्रि में मेरी नीद टूट गई। लगा, जैसा मेरी शय्या हिल रही है। सोचने लगा—शायद भूमिकम्प हुआ है, किन्तु नही। वैसा होने पर तो छत विलम्बित दीपदान की शृङ्खला भी हिलती, घर के दरवाजे भी हिलते-डुलते, खट्-खट् शब्द करते। लेकिन ऐसा कही कुछ नही हुआ। सब कुछ यथावत् था, यहाँ तक कि मेरी शय्या भी।

तब क्या मुझे भ्रम हुआ था? नही दूसरे ही दिन देखा—कोई जैसे मुझे शय्या से उठाए लिए जा रहा है। हाथ-पाँव हिलाना चाहा तो हिला न सका। क्योकि वे बधे हुए थे। चिल्लाने की कोशिश की तो कण्ठ से कोई स्वर ही नही फूट पाया। अस्पष्ट अन्धकार में न जाने कितनी अली-गली पार की। तदुपरान्त सहसा प्रभात की अरुणिमा को विकसित होते देखा। नीचे क्षरस्रोता एक नदी प्रवाहित हो रही थी। कौन-सी नदी थी ज्ञात नही। वे लोग मुझे कहाँ ले आए, यह नही जान पाया। तभी सहसा उन्होंने मुझे शून्य मे उत्क्षिप्त कर दिया। नीचे गिरते समय उस नदी का प्रवाह दृष्टिगत हुआ। मेरी देह जल को स्पर्श करने ही वाली थी, कि मै चीत्कार उठा। मेरी नीद टूट गयी।

लगा स्वप्न देख रहा था। पर, उस स्वप्न की चर्चा किसी से नहीं कर सका। यहाँ तक कि रन्तिदेव से भी नहीं। उस समय मैं किशोरावस्था को अतिक्रम कर गया था। अतः सोचने लगा—लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे ? मैं स्वप्न देखकर डर गया ! छीः !

किन्तु अब उस घर में रहना कठिन हो गया था। कल रात्रि में ही किसी रमणी कण्ठ का दूरागत क्रंदन सुना। और आज ? आज उसे स्वनेत्रो से देखा। देखा—वह मेरी शय्या के पार्श्व में खड़ी होकर कह रही थी—"देखो, तुम्हारे लिये मुझे कितना कठोर दण्ड मिला है" और तभी उसने अपना पृष्ठ देश अनावृत किया। ओह ! उसके समस्त पृष्ठ भाग पर कशाघात के सद्यः क्षत् चिन्ह भरे थे, जिनसे अविरल रक्त प्रवाहित हो रहा था। सोचने लगा—कितना निष्ठुर होता है वह मनुष्य, जो इस प्रकार कशाघात कर सकता है। किन्तु मैंने क्या किया था ? फिर भी उसके आर्त मुख की ओर देखकर मेरा समस्त शरीर वेदना से काँप उठा। मैंने दोनों हाथों से नेत्रों को आवृत करना चाहा। पर लगा जैसे मेरे नेत्र थे ही नहीं। वहाँ थे मात्र दो शून्य कोटर। कितना आश्चर्य। फिर मैं देख कैसे रहा था ? मैं चिल्लाता हुआ जाग पड़ा। मेरी समस्त देह स्वेद कणों से भीगी थी। किन्तु, कहीं किसी को देख नहीं पाया।

दूसरे दिन पाठ में मन नहीं लगा सका। समस्त दिन उसी की बात सोचता रहा। किसने उसे इस प्रकार कशाघात कर जर्जरित किया ? और क्यों ? मैंने उसे कहीं देखा हो, ऐसा भी स्मरण नहीं हो रहा था। किन्तु उसने तो स्पष्टत. सारा दोष मुझ पर ही डाल दिया था। लेकिन अनिष्ट करना तो दूर, मैंने तो उसे इसके पूर्व कभी देखा

तक नहीं था। रात्रि जागरण के कारण मेरे दोनों नेत्र फूल गये थे। अतः अस्वस्थता का भान कर रन्तिदेव से शीघ्र ही विदा ग्रहण कर ली। फिर भी उन्हें कुछ वता न सका। वताने पर न जाने वे क्या सोचते, इस सकोच ने ही मुझे रोक रखा था। किन्तु, उस दिन अपने निवास स्थान पर भी नही लौट मका। ममस्त दिन इस पथ से उस पथ भटकता रहा। कव संध्या हुई, कव सूर्य अस्त हुआ, कुछ भान ही नही था। जव भान हुआ तव पाया कि मैं नगर के उपान्त मे स्थित एक जीर्ण भग्न मदिर के सम्मुख खडा हूँ। वह चण्डी का मदिर प्रतीत होता था। सोचा, आज यहीं रात्रि यापन करूँगा।

तव रात अधिक नही हुई थी। शुक्लपक्ष के कारण ज्योत्सना ने दुग्धवत् श्वेतवर्ण से पृथ्वी को ढक रखा था। चण्डी मन्दिर के वाहर अवश्य ही कभी विशाल दरवाजे रहे होंगे। किन्तु आज तो उनका कोई चिन्ह ही नही था। भीतर वेदी पर चण्डी मूर्त्ति भी नही थी। मात्र मूल वेदी के सम्मुख एक लौह वेदिका पर कज्जलवत् कृष्णवर्ण एक महीष के अतिरिक्त समस्त कक्ष शून्य था। मन्दिर के सम्मुख ही था उन्मुक्त प्रागण। उसके कुट्टिम को विदीर्ण कर मध्य-मध्य में हरित वर्ण तृण उद्गत हो गये थे। उसी प्रागण के अपर प्रात पर एक छोटा-सा घर देखा। लगा—कभी वह पुजारी का निवास स्थान रहा होगा। उसके सम्मुख ही था अयत्न परिवर्द्धित करवी का एक विशाल झाड।

दरवाजे पर धक्का देते ही वह खुल पडा। कोई दिखाई नही दिया अतः रात वही व्यतीत करना निश्चित किया। दरवाजे के समीप कुछ स्थान स्वच्छ कर उत्तरीय विछाकर लेट गया।

लेटे-लेटे ही क्षत्रिय गृह की घटना याद करने लगा। पर उन घटनाओं का कोई अर्थ नहीं खोज पाया। फिर भी चित्रवत् वे विचित्र घटनायें क्रमशः मेरे मस्तिष्क मे उतरती रही और कब मेरी आँखें लग गयीं कुछ ज्ञात नही। किन्तु उन वन कुक्कुटों के उडान भरने से अचानक मेरी नींद टूट गई, जो कि करवी वृक्ष का आश्रय लिये थे। तभी बाहर किसी की पद-आहट सुनायी दी। सोचने लगा—इतनी रात को यहाँ कौन आया है? उसके आगमन का क्या उद्देश्य हो सकता है? यह सब बातें मन में उदित हुईं। कुछ सोच ही नहीं पाया कि भीतर ही रहूँ या बाहर जाऊँ। अन्ततः दरवाजा जरा-सा टेढा कर बाहर की ओर झाका। देखा, एक गैरिक वस्त्रधारिणी स्त्री इसी ओर आ रही है। अब भीतर रहना युक्ति-संगत नही लगा। अतः बाहर आ खडा हुआ। उसे देख कर मैं जितना विस्मित था, उससे कही अधिक विस्मित वह मुझे देखकर हुई। उसके एक हाथ में त्रिशूल एवं अन्य हाथ में नर-मुण्ड था। जानु विलम्बित थी उन्मुक्त पिंगल केश-राशि। स्वर्णाभ-मुखमण्डल गैरिक वस्त्रों में कुण्डलाकार आवृत था। उसकी दोनो आँखे विकसित कचनार पुष्प की भाँति इषत् लाल और उन्मिलित थी। एक मन्द-मन्द-सा आलोक उन आँखो के मध्य से विच्छुरित हो रहा था। वह रमणी मनोहर भी नही थी, तो भयकर भी नही थी। मैं उसके मुख की ओर देख रहा था। तभी उसके अधरोष्ठ कुछ काँपे। विस्फारित नेत्र ओर अधिक विस्फारित हो गये। नासाग्र पर एक कैसा-सा स्फुरण होने लगा। भ्रूलता विकुंचित हो उठी एवं विस्तृत ललाट पर वलि-रेखा फूट पडी। वह सहसा मुझसे प्रश्न कर बैठी—"तू चोर की तरह यहाँ क्यों घुसा बैठा था?"

मैं चोर की भाँति तो यहाँ नही आया था, किन्तु किसी की अनुमति भी नही ली थी। लेने का प्रश्न ही नही था। प्रत्युत्तर देते समय जो कुछ जिह्वा पर आया, कह डाला। बोला—"माँ, मै अज्ञानी और दुःखी हूँ। अनजान में ही रात्रि-यापन के लिए यहाँ आ गया था। आप मेरा अपराध क्षमा करें।"

उस भैरवी ने मुझे ऊपर से नीचे तक देखा। बोली—"तू ब्राह्मण है?"

"हाँ माँ। मै वात्सायन गोत्रीय ब्रह्मण हूँ।"

"वात्सायन? वैदिक क्रियाएँ जानता है?"

बोला—"अति सामान्य। क्योंकि वेदपाठ में कभी मेरी रुचि नही रही।"

उसने पुनः प्रश्न किया—"तू यहाँ क्या कर रहा था?"

नही सोच पाया, वह क्या जानना चाहती थी? फिर मैं तो वहाँ कुछ कर भी नही रहा था। अतः पुनः वही उत्तर दिया। वह मेरे मुख की ओर देखकर क्या सोचने लगी, नही कह सकता किन्तु, बोली—"ठीक-ठीक जवाब दो नही तो अकल्याण हो जाएगा।"

अकल्याण की बात सुनकर कुछ सहम-सा गया। क्योंकि वे कल्याण कर सकें या नही अकल्याण तो कर ही देती हैं, यह मै जानता था। अतः बोला—"ठीक ही कहा है।"

इस बार वह मुस्कुरा उठी। वह हँसी नारी जनोचित नही थी। बिल्कुल नही। न ही उसमें शील और विनय था, न लज्जा और माधुर्य। मैं और भयभीत हो गया। करबद्ध होकर बोला—"क्षमा करें माँ।"

उसने मेरा अपराध क्षमा किया या नहीं विदित नहीं और यह भी नही जान पाया कि वह प्रसन्न थी या अप्रसन्न। मात्र "इधर आओ" कहकर स्वयं का अनुसरण करने को कहा।

उसका अनुसरण करता हुआ मन्दिर से संलग्न पंचवटी में पहुँचा। वहाँ उसने मेरे भ्रूयुगल के मध्य भाग को अंगूठे से दवाया। मुहूर्त्त मात्र में मुझे चक्कर-मा आने लगा। जो कुछ स्वप्न मे देखा था, वही पुनः देखने लगा। देखते-देखते सहमा मेघ घिर आये। प्रवल वेग से वायु प्रवाहित होने लगी। दिग्मण्डलो में विद्युत चमक उठी। लगा मै एक नौका में वैठा हूँ। नौका जोर-जोर से हिलने लगी। वह नौका नदी में नही समुद्र में थी। कुछ क्षणो में ही समुद्र उत्ताल हो उठा। नौका और अधिक डगमगाने लगी। मैंने उस प्रकार की नौकाएँ भी कभी नहीं देखी थी। सभी यात्री चिल्ला रहे थे। किस भाषा में चिल्ला रहे थे यह मै नही जान सका। और मै? मैं तो जैसे इस उत्ताल समुद्र में निमज्जित हुआ जा रहा था। पर किसी ने मुझे कस कर पकड रखा था। विद्युत आलोक में एक क्षण के लिए मैने उसे देखा, पर समझ न पाया कि पहले मैने जिस रमणी को देखा था, उसमें व इसमें कोई सादृश्य था कि नही। पर वह और मै दोनो समुद्र के अतल में डूवे जा रहे थे। शायद मै चिल्ला पडा था, तभी भैरवी के अंगुष्ठ दवाव को पुनः ललाट पर अनुभव किया। मेरी वाह्य चेतना लौट आयी। आँखें खोल कर देखने लगा। देखा—भैरवी मेरे मुख की ओर अपलक देख रही थी। वोली—"क्यो रे, डर गया क्या?"

वोला—"हाँ माँ।"

"जा, भाग जा यहाँ से।"

"कहाँ ?"

"कहाँ क्या ? अब एक पल भी यहाँ मत रुक। श्रावस्ती से सीधा तक्षशिला जा। वहाँ तेरा भाग्योदय होगा। तू वैद्य है।"

"माँ, मैं कुछ समझ नही पा रहा हूँ।"

"मैं भी क्या कुछ समझ सकी हूँ। यह सब उसकी लीला है।" कहते हुए चण्डी मन्दिर की ओर दृष्टिपात किया।

बोला—"माँ, आप सब कुछ समझती हैं। दया कर मुझे समझा दीजिए न।"

उसने सप्रसन्न दृष्टि से मेरी ओर देखा। साहस पाकर बोला—"माँ, मैंने जो कुछ देखा वह सत्य है ?"

"हाँ सत्य है, जो तेरे जीवन में घटित हुआ" कहकर वह चुप हो गई। किन्तु अगले ही क्षण मुझे जिज्ञासु देखकर बोली—"इस जीवन में नही, पूर्व जीवन में।"

"किन्तु माँ, जो पूर्व स्वप्न में नही देखा, अभी देखा—यह क्या ?"

उसने पुनः चण्डी मन्दिर की ओर दृष्टिपात किया। बोली—"यथा समय जान जाएगा।"

बोला—"समझ गया। यही मेरी भवितव्यता है। यही है न ?"

इस बार वह जरा जोर से बोली—"भवितव्यता को कोई नही मिटा सकता। तुझे जो कुछ कहा वह नियति है। तुझे वही करना होगा। तू इसी क्षण श्रावस्ती का परित्यग कर चला जा।"

"इसी क्षण ?"

"हाँ, इसी क्षण।"

"किन्तु, माँ.. "

"खडा-खडा तर्क मत कर। जो कहा वही कर"—कहती हुई वह घर की ओर मुड गई।

अतः वह स्थान परित्याग करना पडा। जाते-जाते पुनः उसका कण्ठ-स्वर सुना—"श्रावस्ती के वाहर अश्वथ वृक्ष तले एक दल सार्थवाह रात्रियापन कर रहा है। तू उन्ही के साथ तक्षशिला चला जा!"

एतदर्थ विना किसी को कुछ कहे-सुने मै भैरवी के निर्देशानुसार सार्थवाह के दल में सम्मिलित हो गया और सूर्योदय के पूर्व ही श्रावस्ती का परित्याग कर दिया।

देखते-देखते छः वर्ष व्यतीत हो गए। आर्य नागदत्त से भलिभाँति आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन किया। आयुर्वेद ज्ञान के साथ-साथ उन्होने मेरे मन को परोपकार की भावनाओं से भी आपूरित कर दिया था। उनका कथन था कि मै आयुर्वेद ज्ञान को अर्थोपार्जन के माध्यमरूप में ग्रहण नही करूँ, वल्कि परोपकार का सुयोगरूप ईश्वरीय देन समझकर ग्रहण करूँ। दूसरो के दु.ख से दुःखी हो सकना ही इस विद्या की सार्थकता है। नही तो वस यह केवल भार रूप ही है।

उनके इस उपदेश को ग्रहण कर एवं आशीर्वाद पा वैद्यरूप में नवीन जीवन प्रारम्भ किया और इसी सिलसिले में गुल्म जातीय एक औषध के सन्धान में इतस्ततः पर्यटन करता एक वार तक्षशिला से वहुत दूर चला गया। उस ओर के पहाडों पर हरीतिमा का सौन्दर्य न था। वे थे रूक्ष और नग्न। और उन पहाडो की गोद में थी विस्तीर्ण उपत्यका। उसी उपत्यका के किनारे-किनारे साथो का पथ था। इसी पथ से होकर

लोग यातायात करते। मैं भी इसी पथ से होकर आ रहा हूँ। पथ के दोनों ओर मध्य-मध्य में थी पन्थशालाएँ। अतः रात्रियापन में कही कोई कष्ट नही था। चारो ओर की शुष्क प्रकृति के मध्य में पन्थशालाएँ मरूद्यान की भाँति थीं। कारण इन सब पंथशालाओ में जिस प्रकार की सुख-सुविधाएँ पायी जाती हैं, वह साधारण गृहस्थ के घर भी दुर्लभ थी। साधारण यात्रियों के लिए साधारण किन्तु क्षत्रप, महाक्षत्रप और राजपुरुषों के लिए जो पन्थशालाएँ थी, उनका ऐश्वर्य तो बस कल्पनातीत था।

एक साधारण पन्थशाला के प्रागण में बैठा मै खरबूजा खाकर अपनी क्षुधा निवृत्ति कर रहा था और पार्श्व उपविष्ट कई जनो के साथ गप्प करता जा रहा था। बात ही बात मे मैं क्या करता हूँ, यह पूछने पर कह बैठा कि मैं वैद्य हूँ। वैद्य शब्द सुनते ही मैने जिससे खरबूजा खरीदा था, वह पूछने लगा—"आप कहाँ के वैद्य हैं?"

बोला—"तक्षशिला का।"

उसने पुनः प्रश्नसूचक दृष्टि से देखते हुए पूछा—"आप क्या तक्षशिला के हिन्दू वैद्य हैं?"

बोला—"हाँ।"

वह उसी क्षण बिना कुछ कहे दौडकर एक निकटस्थ सम्भ्रात पन्थशाला में घुसा और साथ-साथ ही वहाँ से लौट आया। बोला—"आपको एक बार इस पन्थशाला में चलना होगा। महाक्षत्रप की पत्नी सहसा अस्वस्थ हो गयी हैं। क्षत्रप के वैद्यो की औषध कुछ काम नही कर रही है। अतः यदि आप एक बार चलकर उन्हें देख लें तो अच्छा रहेगा।"

वोला—"अवश्य देखूँगा।" फिर तुरन्त हाथ धोकर उसके पीछे-पीछे सम्भ्रान्त पन्थशाला के द्वार पर उपस्थित हुआ।

कई दिनों के प्रवास के कारण मेरे वस्त्र मैले हो गये थे। शायद यही देख कर राजकर्मचारी के मुख पर विरक्ति फूट रही थी। किन्तु लगा मेरी आकृति और सौम्यता ने उसे प्रभावित किया था। तभी वह विरक्ति कुछ क्षण पश्चात् ही विलीन हो गयी। वह वोला—"तुम वैद्य हो?"

"हाँ।"

"कहाँ के?"

"तक्षशिला के।"

तक्षशिला नाम ने उसे और भी प्रभावित किया। वह और भी नम्र होकर वोला—"हमारे महाक्षत्रप की पत्नी अस्वस्थ हो गयी हैं, क्या तुम उनकी चिकित्सा कर सकोगे?"

"क्यों नही कर सकूँगा?"

उसने पुनः एक वार मेरे वस्त्रों की ओर देखा, पर कुछ वोला नही। फिर "आओ" कहकर अपने अनुसरण का संकेत किया।

मै भी उसका अनुसरण करता हुआ दूसरी मंजिल पर चढने लगा। सीढियो पर विभिन्न रंगो के गलीचे विछे थे। सीढी के दोनो ओर उत्कीर्ण था सुन्दर कारुकार्य और घर के मध्य में विछी थी वहुमूल्य जाजम। दरवाजे के दोनों ओर लगे थे पारदर्शी पर्दे। समीप ही दो सुन्दरियाँ खडी थी। दरवाजे के समीप ही मुझे प्रतीक्षा करने को कहकर उसने एक सुन्दरी के कानों में कुछ कहा। वह वडी सावधानी से

दरवाजा खोलकर भीतर गयी और कुछ क्षणों में ही लौटकर मुझे भीतर जाने को बोली।

राजकर्मचारी नीचे चला गया। मैं उस सुन्दरी का अनुसरण करता भीतर पहुँचा। प्रवेश करते ही एक मधुर-सी सुरभि मेरे नथुनों में प्रवेश कर गई। क्षिप्र दृष्टि से मैंने घर के चारों ओर देखा। ऐसा सुसज्जित गृह मैंने इसके पूर्व कभी नहीं देखा था। गृह-सज्जा निपुणता एवं सूक्ष्मरुचि की परिचायक थी। जाजम, पर्दें, मसनद, दीपदान, चित्र और मूर्त्तियाँ इस प्रकार सजायी हुई थी कि समग्र कक्ष एक चित्र-सा प्रतीत हो रहा था। दाहिनी ओर की दीवाल के समीप एक मोटे गद्दे पर दो-तीन मसनद लगे थे। उसी में से एक का सहारा लेकर बैठा था एक मध्य-वयस्क स्थूल पुरुष एव उसके समीप ही बैठी थी एक अनुपम सुन्दरी षोडशी युवती, जिसका देह वर्ण था श्वेत कमल से भी उज्ज्वल। गुलाबी थे कपोल। अधरों की लालिमा थी शुक चंचुओं को लज्जित करने वाली। धनुष से वक्र सोनाली थे भ्रू युगल। दीर्घ एवं घनी बरौनियों में आवृत्त नीली, विषण्ण और आर्द्र आँखें। उसे देखते ही मैं चौंक उठा। चण्डी मंदिर की पंचवटी में विद्युत की झलक में जो मुख मैंने देखा था, उस मुख के साथ इस मुख का अद्भुत साम्य था।

मैं उसे एक बार और देखे बिना रह न सका; देखा, उसकी देह पर था सोनाली मखमल का अंगावरण, शाल और सलवार। शरीर पर अलंकारों का बाहुल्य नहीं था। किन्तु इन अलंकारों को उसने इस प्रकार धारण कर रखा था जिससे उसका सौन्दर्य विकसित हो उठा था। तभी मुझे एक कवि का कथन याद हो आया। जिसने लिखा

था—'रत्न स्त्रियो को क्या विभूषित करेंगे ? स्त्रियाँ तो मनोहारिणी होती हैं। किन्तु स्त्रियो के अंगो का सम्पर्क पाए विना रत्न किसी को भी मुग्ध नही कर सकते।'

कक्ष में इन दोनो के अतिरिक्त और भी कई तरुणियाँ उपस्थित थीं। उनके चेहरे और विनीत भाव को दृष्टिगत करते हुए लगा, वे क्षत्रप के अन्तःपुर की परिचारिकाएँ थी।

ज्योही मै क्षत्रप के सम्मुख उपस्थित हुआ, उन्होंने मुझसे जिज्ञासा की—"क्या तुम ही तक्षशिला के हिन्दू वैद्य हो ?"

प्रत्युत्तर दिया—"हाँ महाक्षत्रप !"

वे वोले—"मेरी पत्नी वहुत ही अस्वस्थ हैं। मेरे वैद्यो की औषधि कारगर नही हो रही है।"

वोला—"एक वार मै उन्हें देखना चाहता हूँ।"

"अच्छा, तव भीतर चलो"—कहते हुए वे उठ खडे हुए।

श्वेत पाषाण की प्राचीर से श्वेत पर्दा हटाते ही भीतर जाने का पथ दृष्टिगत हुआ। क्षत्रप और वह षोडशी आगे-आगे चल रही थी। उनका अनुसरण करते हुए मैने एक अन्य कक्ष में प्रवेश किया। वहाँ हाथी दाँतो के पाएवाला एक पलंग था। उस पर विछी फेन-सी कोमल एवं श्वेत शय्या पर क्षत्रपाणी सो रही थी। उसका समस्त शरीर श्वेत वस्त्र के आवरण से ढका था। मात्र चिवुक का ऊपरी भाग अनावृत था। मै उसके निकट पहुँचा। देखा—उसके और उस षोडशी के चेहरे में अत्यन्त सादृश्य था। किन्तु षोडशी के तरुण सौन्दर्य के स्थल पर उसमें प्रौढावस्था का प्रभाव और दीर्घ रुग्णावस्था के चिह्न वर्तमान थे। क्षत्रपाणी के अधर अपनी लालिमा खोकर फीके

पड गए थे। वन्द नेत्र कोटरो में धंस गए थे। पीताभ भ्रू और सतेज ललाट की स्निग्ध शुभ्रता रूक्ष और निस्तेज हो गयी थी। क्षत्रप ने उसके कानों में उसका नाम लेकर पुकारा। किन्तु उसने सामान्य रूप से नेत्र उन्मीलित कर फिर निमीलित कर लिये।

शय्या के पार्श्व में उपविष्ट होकर उसकी नाडी देखी। वही पाया जिसकी मुझे आशंका थी। उसे स्नायुविक रोग था। इससे किसी भी समय मृत्यु हो सकती थी। इस रोग की प्रतिरोधक औषधि मै जानता था, अतः क्षत्रप से एक पात्र में जितना पुराना सम्भव हो सके, उतना पुराना द्राक्षासव लाने को कहा।

क्षत्रप के यहाँ इसका अभाव नही था। रक्त की भाँति लाल द्राक्षासव से परिपूर्ण एक पात्र लाकर परिचारिका ने मेरे सम्मुख रख दिया। मैंने उस सुरा को स्वर्ण चषक में डाला। फिर एक रत्ती औषधि क्षत्रपाणी के मुँह में डालकर थोडी-सी सुरा उडेली। क्षत्रपाणी को उसे निगलते देख मै सन्तुष्ट होकर वोला—"अव कोई भय नही है। कुछ देर पश्चात् ही ये आँखें खोल देंगी" कहकर पुनः पूर्व कक्ष में लौट आया।

मै क्षत्रप और पारसिक वैद्यों के साथ वातचीत करने लगा। पारसिक वैद्यगण रोग का इतिवृत्त मुझे सुना रहे थे। इसी मध्य परिचारिका ने आकर क्षत्रप को पुकार कर कहा—"क्षत्रपाणी जी आपको बुला रही हैं।"

क्षत्रप की आँखों में आशा का आलोक फूट पडा। वह मुझे साथ लेकर भीतर गया। देखा—क्षत्रपाणी की आँखे पूर्णतः खुली थी। उसके मुख पर जीवन का स्पन्दन लौट आया था।

क्षत्रप जैसे ही क्षत्रपाणी के मुख की ओर झुका, क्षत्रपाणी बोली—“अब मैं बहुत अच्छी हूँ। यही कहने के लिए तुम्हें बुलाया था।” क्षत्रप ने मेरी ओर इंगित करते हुए कहा—“यह सब इसके कारण हुआ। इसने भी यही कहा था।”

क्षत्रपाणी कृतज्ञता भरी दृष्टि से मेरी ओर देखने लगी। बोली—“तुम रोग को पहचानते हो, वे अन्य वैद्य तो कुछ जानते ही नही।”

मैंने उस साधारण पन्थशाला में लौटना चाहा। किन्तु क्षत्रप ने जाने नही दिया। अपने कक्ष के समीप ही एक कक्ष में रहने का स्थान निर्दिष्ट कर दिया। बाध्य होकर मुझे वहीं रहना पडा।

देखते-देखते कई दिन व्यतीत हो गए। क्षत्रपाणी और स्वस्थ हो गयी थी। मेरी बाह्य वेष-भूषा में भी अब बहुत परिवर्तन आ गया था। बहुमूल्य पोशाक परिहित वर्त्तमान के मुझमे और साधारण पन्थशाला में खरबूजा खाते हुए उस व्यक्ति में अब कोई समानता नही थी।

क्षत्रपाणी के स्वस्थ हो जाने पर भी क्षत्रप ने मुझे छोडा नही। जब मैंने तक्षशिला लौटने की बात कही तो बोले—“क्षत्रपाणी की इच्छा तुम्हें हमारे पारिवारिक वैद्य के रूप में हमारे साथ ही रखने की है।”

क्षत्रपाणी को मैंने अपनी अभिलाषा बतलाई। बोला—“मेरी इच्छा अपने देश लौटकर देश के अधिवासियों का दुःख दूर करने की है। मैं उनकी सेवा करना चाहता हूँ।”

किन्तु, प्रत्युत्तर में क्षत्रपाणी ने जो कुछ कहा, उसने मुझे विवश कर दिया। वह बोली—“वैद्यराज! तुम्हारी दृष्टि इतनी संकीर्ण क्यों है? तुम्हारा देश? बस क्या उतना ही है तुम्हारा देश? यह पूरा विश्व

क्या तुम्हारा देश नही है ? तुम तरुण हो; तुम में प्रतिभा है। अब तुम जहाँ भी रहोगे, वही पीडित और आर्त्तजनो की सेवा कर सकोगे।"

क्या प्रत्युत्तर देता इसका।

फिर भैरवी की बात भी मुझे स्मरण हो आयी—'तक्षशिला में तेरा भाग्योदय होगा।' तो क्या यह भाग्योदय का ही प्रारम्भ है ? अन्ततः महाक्षत्रप के साथ रहना ही स्थिर किया। पारसियों की राजधानी पार्सोपलिस मैने देखी नही थी। सुना था महाक्षत्रप शीघ्र ही पार्सोपलिस जाने वाले हैं। सोचने लगा—इन लोगों के साथ मेरी वह यात्रा बडी सुखकर होगी।

अनाहिता को मेरे इस संकल्प से बडी प्रसन्नता हुई। अनाहिता वही षोडशी युवती और क्षत्रप-कन्या है, जिसे देखकर मै विमुग्ध हो गया था। मेरी सुख-सुविधा और तत्वावधान का भार उसी पर था। क्षत्रपाणी भी मुझसे पुत्रवत् स्नेह करती थी। कुछ दिनों में ही मै एक तरह से उनका परिवार भुक्त हो गया था।

एक दिन अचानक अनाहिता मेरे पास आयी—"तुम्हें एक चीज दिखाऊँ" कहती हुई एक काष्ठ-पेटिका मेरे सम्मुख रख दी। उस पेटिका में चन्दन काष्ठ की एक जिन मूर्त्ति रखी थी। उसने वह मूर्त्ति निकाल कर मेरे हाथो में दी। मैं भी उसे घुमा-फिराकर देखने लगा। बहुत प्रिय लगी मुझे वह मूर्त्ति।

अनाहिता बोली—"तुम बता सकते हो, यह मूर्त्ति किसकी है ?"

"बता सकता हूँ। यह मूर्त्ति भगवान महावीर की है। क्योंकि मथुरा के निर्ग्रन्थ विहार में मैने ऐसी मूर्त्ति प्रतिष्ठित होते देखी है।"

अनाहिता कहने लगी—"मैने मथुरा नहीं देखी है, किन्तु तक्षशिला देखा है। अत्यन्त सुन्दर स्थान है। वही मैने एक दुकान पर यह मूर्त्ति देखी थी। इस मूर्त्ति की भाव-भंगिमा मुझे बहुत अच्छी लगी। इतना ही नहीं, मूर्त्ति को हाथ में लेते ही लगा, जैसे इसके साथ मेरा सम्बन्ध जन्म-जन्म से है। क्या तुम जन्मान्तर मानते हो?"

बोला—"मानता हूँ। तुमने इस मूर्त्ति के लिए जो कुछ कहा है, ठीक वैसा ही अनुभव मुझे भी हुआ। ऐसा लग रहा है कि मैंने इस मूर्त्ति को कहीं देखा है। पर कहाँ देखा है यह याद नहीं कर पा रहा हूँ। शायद यह मूर्त्ति किसी जन्म में मेरे पास थी।"

"तब तुम्ही रखो इसे"—कहती हुई अनाहिता ने वह काष्ठ-पेटिका मेरी ओर सरका दी। मैने मूर्त्ति को लौटाते हुए कहा—"नहीं अनाहिता। इस मूर्त्ति को तुम्ही रखो। यह मेरी और तुम्हारी दोनों की है।"

अनाहिता ने क्या सोचा कह नहीं सकता, किन्तु उसका गौरवर्ण मुख सहसा आरक्तिम हो उठा था। बिना कुछ प्रत्युत्तर दिये वह काष्ठ-पेटिका लेकर कक्ष से बाहर चली गई।

तदुपरान्त, कई दिनो तक अनाहिता को नहीं देख पाया। किसी बड़े कार्य में व्यस्त हो गई हो ऐसा भी नहीं लगा। क्योंकि उसकी दृष्टि सर्वदा मेरी सुख-सुविधाओ की ओर थी—यह मै प्रतिपल अनुभव कर रहा था। किन्तु फिर भी उसने स्वय को मुझसे दूर कर रखा था।

उस समय मै नारियो के मन को नहीं जानता था। यदि जानता होता तो इस लोक-दिखाऊ अवहेलना को अवश्य ही अनुराग का लक्षण मान लेता और समझ गया होता कि वह स्वयं को हटा कर मेरे मन में

उसके प्रति कौतूहल जाग्रत करने का प्रयास कर रही थी। किन्तु मैं तो इसके विपरीत स्वय को धिक्कारने लगा। सोचा—अवश्य ही मैने किसी असावधान क्षण में उसका कुछ अविनय किया है, इसी से वह रुष्ट है। उसे बुलाकर यह वात कहूँगा, सोचता ही रह गया, पर कह न पाया, किन्तु उसके आने की प्रतिनियत प्रतीक्षा करता रहा।

मेरा वह भावान्तर जहाँ एक ओर मुझे माधुर्य-मण्डित लगता था वहीं दूसरी ओर सव कुछ नीरस भी प्रतीत होने लगा था। एक वार तो ऐसी इच्छा हुई कि विना किसी से कुछ कहे भाग जाऊँ। पर भाग न सका।

अनाहिता ने जिस प्रकार हठात् आना वन्द कर दिया था, उसी प्रकार एक दिन हठात् ही मेरे सम्मुख उपस्थित हो गई। इधर कई दिनों से नहीं आने का कारण वताती हुई वोली—"कुछ दिनो से अस्वस्थ थी, अतः आ न सकी।"

"किन्तु मुझे तो यह वात किसी ने नहीं वताई। वताई होती तो मैं तुम्हें कोई औषधि देता और तुम शीघ्र ही स्वस्थ हो जाती।"

अनाहिता उसी प्रकार दृष्टि नीचे किए ही वोली—"मेरी अस्वस्थता की वात मैने किसी को वताई ही कहाँ थी।"

मैने भी आगे विना कुछ प्रश्न किए ही पूछा—"अव तो ठीक हो न?"

उसने भी साधारण रूप में ही प्रत्युत्तर दिया—"हाँ।" फिर कुछ रुककर वोली—"परसों ही हमलोग पार्सोपलिस की यात्रा प्रारम्भ करेंगे।"

मैं यह जानता था, फिर भी विस्मय प्रकट करता हुआ बोला—"अच्छा। ऐसा है?"

वह मेरे मुख की ओर देखने लगी। उसकी उस दृष्टि में क्या था यह मैं नही कह सकता। पर वह मुझे इन्दिवर की माला की भाँति आवद्ध कर रही थी एव मन्दारपुष्प की भाँति भीतर-वाहर सौरभमय करती जा रही थी।

निर्दिष्ट समय पर हमारी यात्रा प्रारम्भ हुई और निर्धारित समय पर ही हम पार्सोपलिस आ पहुँचे।, राह में ऐसा कुछ घटित नही हुआ, जिसका उल्लेख प्रयोजनीय हो। इस यात्रा ने अनाहिता को मेरे और निकट ला दिया। उसका व्यवहार मेरे प्रति अव और स्वच्छन्द हो गया था।

पृथ्वी के इतने वडे राज्य की राजधानी इस प्रकार वृक्ष-वनस्पति रहित होगी, सोच भी नही सकता था। फिर भी मानव निर्मित सुरम्य हर्म्य, वृषचूड स्तम्भ श्रेणियाे एवं सौम्य शिखरों ने मुझे विमुग्ध कर दिया। अपदान महाकक्ष के निर्माण में कितनी करोड स्वर्ण मुद्राएँ व्यय हुई होगी, कह नही सकता। किन्तु वह मुझे धरती के एक आश्चर्य की भाँति ही प्रतीत हुआ।

कुछ ही दिनो में पार्सोपलिस में भी मै विख्यात् हो गया। महाक्षत्रप जहाँ-तहाँ मेरी प्रशसा करने लगे कि पारसिक चिकित्सक गण जिस रोग का निदान नही कर सके उस रोग का निदान मैंने तरुण होते हुए भी कर डाला। अतः लोग प्रभावित हुए विना नही रह सके। इसलिए सव ओर से मेरा आमन्त्रण आने लगा। यहाँ तक कि देवपुत्र दारायुस को भी मैं देखने गया था। यही कहना होगा भाग्य मुझपर प्रसन्न था। भैरवी

ने ठीक ही कहा था—'तू तक्षशिला जा, वहाँ तेरा भाग्योदय होगा।' किन्तु उस दिन अनाहिता को क्यो देखा था, वह तो आज भी नही समझ पाया हूँ। अनाहिता मुझसे प्रेम करती है—यह मै जानता हूँ। पर उसे प्राप्त कर सकूँगा, इसकी तो कोई सम्भावना ही नही है। क्योकि वह मात्र महाक्षत्रप की कन्या ही नही, देवपुत्र की दूरसम्पर्कीय वहन की कन्या भी है। इसका विवाह तो अवश्य ही किसी राजवंशीय महाक्षत्रप के साथ ही होगा। लेकिन उस समय नही जानता था कि जो होना होता है, वह होता ही है, और जो नही होना है, वह नही होता। मनुष्य तो भाग्य के हाथ का खिलौना है। तटस्थ होकर देखने के सिवाय वह और कुछ भी नही कर सकता है। यदि ऐसा नही होता तो स्वय देवपुत्र को प्राणरक्षा के लिये क्यो अपनी पत्नी एव माता को छोडकर यहाँ तक कि वर्म एवं राजवस्त्र का भी परित्याग कर एक सामान्य खच्चर पर आरूढ होकर भागना पडता ? और मुझे ? पर वह सव वातें यथा समय वताऊँगा।

पार्सोपलिस आते ही मैने प्रथम सिकन्दर की वात सुनी। फिलिप-पुत्र, अरस्तू के शिष्य सिकन्दर ने उस समय दिग्विजयी वीर की ख्याति प्राप्त नही की थी। उस समय तो वस सूर्योदय ही हुआ था किन्तु उसका शौर्य, क्षणस्थायी क्रोध, उच्चाभिलाषा और उदार हृदय की लोग वडी सरगर्मी से चर्चा करते थे। अनाहिता के साथ मैने भी उसके विषय मे कई वार वार्तालाप किया था। अनाहिता ने ही वताया था कि सिकन्दर भारतवर्ष जय कर समग्र एशिया का अधिपति होने का स्वप्न देख रहा है और उस स्वप्न को प्रत्यक्ष करने के लिए उसका प्रधान लक्ष्य होगा पारस। अनाहिता की वात सत्य निकली। अल्प दिनो के

मध्य ही संवाद आया—सिकन्दर की सेना एशिया माइनर तक चढ आयी है।

चारो ओर युद्ध की तैयारियाँ होने लगी। स्वयं देवपुत्र ने विशाल सैन्यवाहिनी लेकर युद्ध यात्रा की। महाक्षत्रप एव उसके परिवार के साथ मैने भी एशिया माइनर की ओर प्रस्थान किया। अनाहिता की भाँति ग्रीक वीर सिकन्दर को देखने की मेरी भी प्रवल इच्छा थी।

यूफ्रेटिस नदी अतिक्रम कर जव हम लोग अमानुष पर्वत के निकट पहुँचे, तव सुना कि सिकन्दर अपनी सैन्यवाहिनी के साथ अमानुष पर्वत के पार ईसास पर प्रतीक्षा कर रहा है।

देवपुत्र ने अपनी सेना को वही अवस्थान करने का आदेश दिया। हमलोग वही स्थित होकर सिकन्दर के आक्रमण की सतत् प्रतीक्षा करते रहे, किन्तु वह गिरिवर्त्म अतिक्रम कर हमलोगो पर आक्रमण करने नही आया।

हम जहाँ अवस्थित थे, वहाँ युद्ध होने पर क्या होता, कहा नही जा सकता। शायद सिकन्दर पराजित भी हो सकता था। किन्तु कई दिनो की प्रतीक्षा के पश्चात् भी जव वह नही आया और यह सवाद आया कि वह ईसास में अल्पसख्यक सेना रखकर समुद्र के उपकूल से पीछे हट गया है तो आशका होने लगी कि वह पीछे की ओर से अमानुष अतिक्रम कर हमारी वाहिनी पर आक्रमण कर वैठे। पर दस दिन और अपेक्षा करने के पश्चात् भी जव उधर से आक्रमण का कोई लक्षण नही दिखाई पडा तो हमारे सेना नायकगण अधीर हो उठे। वे सोचने लगे—सिकन्दर समुद्र कूलवर्ती स्थान का परित्याग कर इधर हम पर

आक्रमण करने का साहस नही कर पा रहा है अतः अब हम लोगो को यहाँ चुपचाप बैठे न रहकर जहाँ वह इस समय अवस्थित है, वही आक्रमण कर उसे समाप्त कर देना उचित है। नाना तर्क-वितर्कों के पश्चात् अन्ततः यही बात सबको जॅची। एतदर्थ हमारी सेना गिरिवर्त्म अतिक्रम कर इसास में पहुॅची और सिकन्दर जो सामान्य सेना वहाँ छोड गया था, वह पारसी सेना द्वारा निहत हुई।

इस खून-खराबी के लिए अनेको ने सिकन्दर को उत्तरदायी ठहराया है, किन्तु इस कार्य के लिये शायद मै उसे उत्तरदायी नही ठहरा सकता, क्योंकि सिकन्दर अपने अस्वस्थ सैनिको को वहॉ छोडकर युद्ध के लिये दूसरी ओर प्रयाण कर गया था। इसके अतिरिक्त वह सोच ही नही सकता था कि इतनी विशाल पारसिक सेना गिरिवर्त्म अतिक्रम कर ईसास के सकीर्ण क्षेत्र में युद्ध के लिये आ उतरेगी। लेकिन, जब यह सवाद उसके पास पहुॅचा तो वह सुशिक्षित सैन्य लेकर तूफान की भॉति पिनारस नदी के दूसरे तट पर आ पहुँचा। भीषण युद्ध हुआ। ग्रीक सेना के आक्रमण से पारसिक सेना परास्त हो गयी। जैसे ही देवपुत्र दारायुस ने युद्ध-क्षेत्र का परित्याग किया पारसिक सैनिक जो जिधर भाग सके, भागने लगे। पारसिक शिविर ध्वंश हो गया। सिकन्दर स्वयं देवपुत्र के पीछे दौडा। देवपुत्र उपायान्तर न देख राजवेष और वर्म का परित्याग कर पार्वत्य अंचल में विचरणक्षम खच्चर की पीठ पर सवार होकर सामान्य सैनिक का वेष किये रात्रि के अन्धकार में पर्वत की विस्तृत तलहटी में अदृश्य हो गए। आगे जाना व्यर्थ समझकर सिकन्दर उस राजकीय पोशाक और वर्म को लेकर ही लौट आया। भागने की व्यग्रता में देवपुत्र अपनी माता तथा पत्नी को भी भूल

गए अतः वे सिकन्दर के हाथों वन्दिनी बनी। महाक्षत्रप युद्ध में निहत हो गए थे। यह संवाद पाकर क्षत्रपाणी ने विषपान कर आत्महत्या कर ली। हम कोई भी उसे नही बचा सके। तभी तो कह रहा था कि जो होना होता है, वह होता ही है, जो नही होना होता है, वह नही होता। फिर भी ईश्वर को बहुत-बहुत धन्यवाद कि उस विपर्यय में भी मै और अनाहिता एक-दूसरे से विच्छिन्न नही हुए। देखा—दूसरे दिन हम लोगो को एक नौका पर चढाया गया। सुना था, हम सबको ग्रीस भेजा जाएगा।

अन्य वन्दियों के साथ हम ग्रीस की ओर चले। अनाहिता कातर भाव से मेरे मुख की ओर देख रही थी। किन्तु उस दृष्टि में ऐसा कोई आभास नही था कि उसका पूर्व वैभवपूर्ण जीवन जो आज पूर्णतः समाप्त हो गया है, उसके प्रति कोई खेद हो॥

हम विशेष कुछ साथ नही ला सके। पर देखा—अनाहिता उस चन्दन मूर्त्ति की छोटी काष्ठ-पेटिका अपने साथ ही लिये थी।

इसके पूर्व अनाहिता मेरे इतने सन्निकट कभी नही आयी थी। हम दोनों समुद्र की ओर देखते हुए उस नौका में पास-पास ही बैठे थे उसकी सोनाली केश राशि उड-उडकर मेरे मुख पर गिर रही थी। वह क्या सोच रही थी, कह नही सकता। किन्तु मुझे स्मरण हो आयी थी श्रावस्ती की उस रात की बात। सोचने लगा—जिस नौका को उस दिन छायाछवि की भाँति देखा था, आज उसी नौका पर आरोहण कर जल यात्रा कर रहा हूँ।

अनाहिता के मुख की ओर देखा—उसके नेत्र कुछ भयभीत से

लगे। यद्यपि समुद्र शान्त था फिर भी उस महासमुद्र की उत्ताल तरंगो के कारण उसका भयभीत होना स्वाभाविक ही था। सहसा उसने मेरी ओर देखा और पहली वार मेरा नाम लेकर आवेश में वोली—"अतीश। तुम मेरा परित्याग कभी नही करोगे न ?"

इस प्रश्न का कारण मै समझ गया था। क्योकि हम लोग तव स्वाधीन नही, पराधीन थे ; अतः एक-दूसरे से अलग हो सकते थे। मुझे तो मालूम था कि ऐसा नही होगा। इसीलिये तो भैरवी ने उस दिन स्पष्टतया कुछ नही कहा था। मै जानता था मृत्यु के अतिरिक्त उससे मुझे कोई विश्लिष्ट नही कर सकता। अतः विना कुछ प्रत्युत्तर दिये मैने उसके हाथो को अपने हाथो में लेकर धीरे-धीरे उसे अपने सीने से लगा लिया।

अनाहिता के मुख पर हास्य-रेखा फूट पडी। वह हास्य जो कि मन्दार पुष्प की भाँति निर्मल था, फिर भी मेरे हृदय को सूचीवत् वीध रहा था। श्रावस्ती की उस रात की वात उसे कहना चाहकर भी नही कह पा रहा था। मात्र इतना ही कह सका—"नही अनाहिता, नही। मृत्युपर्यन्त अव हमलोगों को कोई अलग नही कर सकता।"

उस दिन समुद्र द्विप्रहर तक तो शान्त था, किन्तु अपराह्न के समय आकाश के पश्चिम प्रान्त में अनायास एक मेघ-खण्ड दिखाई दिया। क्रमशः वह मेघ-खण्ड वडा होने लगा। अचानक वायु भी प्रवल वेग से प्रवाहित होने लगी। समुद्र उद्दाम हो उठा। नौकाओ के पाल तो तुरन्त गिरा दिये गये किन्तु फिर भी नौकाएँ भयंकर रूप से डगमगाने लगी। तभी सहसा उस एक नौका को उलटते देखा, जो हमारे सम्मुख

थी। ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे हमारी नौका भी उलट जायेगी। मारे भय के मारे यात्री काँप रहे थे, आर्त्तनाद कर रहे थे। किंतु न जाने क्यों, अनाहिता एकदम शान्त थी।

अन्ततः जब हमारी नौका डूबने लगी—सहसा अनाहिता ने दोनों भुजाओं से मुझे कसकर पकड़ लिया। मैंने भी उसे आलिंगनबद्ध कर लिया। देखा—उस समय भी उसने चन्दन मूर्त्ति का परित्याग नहीं किया था। वह भी मुस्कुरायी, मैं भी मुस्कुराया, क्योंकि वह मूर्त्ति तो उसकी और मेरी दोनों की थी न? वह कुछ कहने ही जा रही थी ·मृत्यु पर्यन्त तभी नौका उलट गई। पर हमारा वह आलिंगन शिथिल नहीं हुआ। अनाहिता, मैं और हमारे साथ-साथ वह चन्दन मूर्त्ति भी समुद्र-गर्भ में निमज्जित हो गयी।

षष्ठ उच्छ्‌वास

सोच रहा था अव इस चन्दन मूर्त्ति कहानी को मेरी और अनाहिता की जल-समाधि के साथ ही समाप्त कर दूँगा। किन्तु वह हो न सका। कहानी के अनेक पाठकों ने मुझे प्रश्नवाणों से जैसे जर्जरित कर डाला। वोले—"यह क्या किया तुमने? तुम्ही ने तो कहा था कि तुम इसी जीवन में मुक्ति प्राप्त करोगे? तो अव क्यो अर्द्धपथ पर लाकर इसे शेष कर डाला? यह तुम्हारी ही तो जीवन कथा है?"

मेरी जीवन कथा? पर मैने कव कहा था कि मै मेरी जीवन कहानी को विवृत्त करूँगा? हाँ। यह अवश्य कहा था कि 'चन्दन मूर्त्ति' की कहानी सुनाऊँगा। किन्तु मेरे एक प्रत्नतात्विक मित्र कहाँ मान पाए। वोले—"वह मूर्त्ति चन्दन मूर्त्ति थी, पाषाण मूर्त्ति नही कि जल में डूब जाती। अवश्य ही टूटी हुई नौका के असलग्न अशों की भाँति ही किसी समुद्र के किनारे जा लगी होगी। वह कोई मानव देह थोडे ही थी कि उसे मच्छ मत्स्यादि खा गए होंगे?"

पूर्व स्मृति के अन्य कक्षपट पुनः मेरी स्मृति में खुलने लगे। दूर से आती हुई निर्झर की कल ध्वनि की भाँति किसी का कण्ठ-स्वर मेरे कानों में प्रवाहित होने लगा? अभिभूत कर डाला उस स्वर ने मुझे। जैसे कोई मेरा हाथ पकडकर कह रहा था—"सुदास! तुम नाराज हो गए?"

मेरी आँखें अश्रुवाष्प से आच्छादित हो गयी। उन्हे छिपाने के लिए मैने मुँह घुमा लिया। कोई प्रत्युत्तर ही नही दे पाया। उसने पुनः उसी स्नेहार्द्र कण्ठ में पूछा—"बोलो ना सुदाम। तुम नाराज हो गए हो क्या ?"

मै ताम्रलिप्त के श्रेष्ठी धनदाम का पुत्र था। और जो मुझे हाथ पकड कर कह रही थी वह थी श्रेष्ठी सागरपालित की कन्या माया। हम दो के अतिरिक्त एक और था जो कि दूर खडा हम लोगो को ताक रहा था। वह था अर्कट, श्रेष्ठी जिनरक्षित का पुत्र। हम तीनो ही समवयस्क थे, खेल के साथी थे। हमारा घर समुद्र उपकूल से अधिक दूर न था। अतः प्रातः-सन्ध्या हम समुद्र सैकत पर दौड भाग करते, सीपियाँ चुनते, भीगी बालू से गृह निर्माण करते और उसे पुनः तोडकर घर लौट आते। इसके लिए कोई हम पर शासन नही करता था। क्योंकि शासन करने लायक वह उम्र भी नही थी। अन्यान्य श्रेष्ठियों के पुत्र, कन्यायें हम लोगो के साथ खेलना चाहते। किन्तु हम थे कि उन्हें पास ही नही फटकने देते। तभी तो अन्यो से हम तीन विच्छिन्न थे, विश्लिष्ट थे। मेरे और अर्कट के मध्य स्नेह था यह कह नही सकता पर हम दोनो माया को प्यार करते थे। और माया भी शायद हम दोनों को ही प्यार करती थी। लगता है इसी कारण मै अर्कट को सहन करता था।

मुझे तो जाती-स्मरण ज्ञान है। तभी तो मै बता सकता हूँ मै 'कौन था, माया कौन थी, अर्कट कौन था। किन्तु अनाहिता के साथ मेरी जल समाधि के पश्चात् का यह प्रथम जन्म नही था। इसके पूर्व

हम लोगो ने और दो जन्म ग्रहण किए थे। एक में थे पक्षी दूसरे में थे पशु। अतः इन जन्मो का क्या वर्णन करूँ? मैं कौन था आप समझ ही गए होंगे। और माया? उसका भी अनुमान आप लोगों ने लगा ही लिया होगा। किन्तु अर्कट? मेरे नेत्रो के सम्मुख वह दृश्य खुल रहा है—जिस दिन मैं और अपाला पारिजात वृक्ष तले एक दूसरे की ओर देख रहे थे। वसन्त रजनी का पूर्णचन्द्र उस समय अस्तगामी हो रहा था और पत्र-पल्लवो के अन्तराल से एक वृद्ध शाणित दृष्टि से हम दोनों की ओर देख रहा था। सहसा उसका कर्कश स्वर कानों में पड़ा—'अपाला! भोर हो गया है। अब घर चलो।'

उस दिन इस गृह निर्माण की प्रतियोगिता थी। अर्कट के साथ मेरी प्रतियोगिता वैसे तो पहले से ही होती आ रही थी। किन्तु आज थी कुछ विशिष्ट। माया ने कहा था—"जो सुन्दर गृह निर्माण करेगा मैं उसी की होऊँगी" -पर मैं गृह निर्माण नही कर सका। जितनी बार चेष्टा की उतनी ही बार वह बालू-गृह टूट-टूट गया। ऐसा तो कभी नही होता था, तो उस दिन क्यो हुआ? शायद विधाता की यही इच्छा थी कि प्रतियोगिता में अर्कट को मैं परास्त न कर सकूँ। लगता है यही मेरी नियति थी। क्रोधवश सब कुछ तोड-ताड कर उस स्थान पर जा बैठा जहाँ समुद्र-उर्मियाँ कूल से टकरा-टकरा लौट रही थी।

आज सोचता हूँ—मैने गृह निर्माण किया ही कब था कि उस दिन गृह निर्माण कर पाता? जिस दिन अनाहिता को अत्यन्त सन्निकट पाया उस दिन मृत्यु ने हमें ग्रस लिया। गृह निर्माण का उस दिन प्रश्न ही कहाँ था। उसके भी पूर्व-पूर्व जन्मो में देवदत्ता, रदनिका, अपाला

किसे लेकर मैंने गृह निर्माण किया था ? तो फिर माया को लेकर कैसे घर बसा पाता ?

माया मेरा हाथ पकड़े हुए कह रही थी—"गुस्सा मत करो सुदाम। घर चलो। गृह निर्माण नही कर सके तो क्या हुआ, मैं तुम दोनो की हूँ।"

उस समय सूर्य अस्त हो रहा था। सूर्य रश्मियो की तिरछी रेखाएँ आकाश में विलीन हो रही थीं। रात्रि का अन्धकार एक-एक कदम अग्रसर हो रहा था। मैंने मुँह फिरा लिया। अश्रुप्लावित नेत्रों से देखा, माया की दोनो आँखें जैसे आर्द्र हो उठी थीं। उस दृष्टि में केवल उसी सन्ध्या की नही, शत-शत सन्ध्या की स्निग्धता ने जैसे आश्रय ले रखा था। वही स्निग्धता, चन्दन की शीतलता लेकर ममता के परमाणुओं से मुझे वेष्टित कर रही थी। एक अनानुभूत आनन्द में जैसे मै डूबा जा रहा था। पर दूसरे ही क्षण न जाने क्यों सहसा बोल उठा—"धत्। ऐसा भी होता है कभी ?"

"क्यों नही होता ?"—कहती हुई सजल दृष्टि से वह मेरे मुख की ओर देखने लगी।

कोई प्रत्युत्तर ही नही दे पाया मै उसके प्रश्नो का। स्वयं के मध्य स्वयं ही डूबा जा रहा था। धरती के समस्त कालो की वेदना जैसे मेरे हृदय मे उमड रही थी। मै उसका हाथ पकडे बैठा रहा। मेरे लिए जैसे देश, काल, जगत सब कुछ विलुप्त हो गया था। तभी अर्कट का कर्कश कण्ठ-स्वर सुनायी पडा—"माया। सन्ध्या खत्म हो रही है, घर चलो न।"

मैने क्षण भर के लिए अर्कट की ओर देखा। देखा— उसकी आँखो में उस वृद्ध की वही शाणित दृष्टि फूट पडी है और जैसे वह दृष्टि मुझे निगलने के लिए दौडती हुई आ रही है।

माया मेरा हाथ छुडाकर उठ खडी हुई। फिर एक-दो वार घर लौटने का अनुरोध किया। तदुपरान्त धीरे-धीरे घर की ओर अग्रसर हो गयी। अर्कट कुछ देर उसे जाते हुए देखता रहा। उसके ओझल होते ही उसने भी अपने घर की राह पकडी। अर्कट तो एक वार भी मेरे पास नही आया और न वोला— गृह निर्माण नही कर पाए तो क्या हुआ सुदास! चलो घर चलें। उसके जाते ही एक भयानक एकाकीपन एवं भयानक रिक्तता अनुभव करने लगा। लगा जैसे इस विराट् विश्व में मेरे लिए कही कोई स्थान है ही नही, न ही मेरा कोई मूल्य है।

मैने आकाश की ओर देखा। देखा आकाश गंगा के प्रवाह में नक्षत्रो की अजस्र आलोक-कणिका के फेनपुंज प्रवाहित हो रहे थे। उसी प्रवाह में मै भी वहता जा रहा था। कभी जल उठता था, कभी वुझ जाता था। सम्मुख ही था, समुद्र का अन्तहीन विस्तार। समुद्र की हजार-हजार उर्मियाँ न जाने किस नागमणि के आलोक को शिखर-शिखर पर विकीर्ण कर मेरे पैरो तले आ-आकर टूट रही थी। वे उर्मियाँ जैसे मेरा आह्वान करती हुई कह रही थी—तुम क्यो हमसे स्वतन्त्र होकर इस प्रकार पृथक वैठे हो? आओ। हमारे आलिंगन में आओ। हम तुम्हे झूला झुलाकर सुला दें। एक वार तो इच्छा हुई समुद्र के वक्ष पर कूद पड़ूँ, उसके आलिंगन-पाश में समा जाऊँ पर उसी क्षण लगा जैसे कोई कह रहा था—'समुद्र सैकत पर गृह-निर्माण

से क्या लाभ होगा ? ऐसे स्थान पर गृह निर्माण कर, जो शाश्वत है।' मैंने पीछे घूमकर देखा। किन्तु कही कोई दृष्टिगत नही हुआ। आश्चर्यचकित-सा इधर-उधर चारों ओर देखने लगा। किन्तु समुद्र गर्जन के सिवाय अन्य कोई शब्द कानों में नही आया। सहसा मन में आया कि यदि मै घर नही लौटा, तो कोई न कोई मुझे यहाँ खोजने अवश्य आएगा। पर घर लौटने की जरा भी इच्छा नही थी। अतः उस स्थान का परित्याग कर वहाँ चला गया, जहाँ श्रेष्ठीगण नौका सज्जित कर सुदूर समुद्री यात्रा के लिए रवाना होते थे। वहाँ सुना—कल ब्रह्म मुहूर्त में जीवन साधु की सात नौकाएँ सिंहलद्वीप की ओर रवाना होगी। मै भी कुछ आगा-पीछा सोचे विना ही उनमें से एक नौका पर अज्ञात रूप से चढ गया। अतः कोई जान ही नही पाया, मै कव और किस प्रकार ताम्रलिप्त का परित्याग कर चला गया।

ताम्रलिप्त परित्याग कर मैंने अच्छा किया या बुरा यह तो नही कह सकता। किन्तु इतना तो अवश्य कहूँगा, अदृश्य के हाथों ही वह कार्य हुआ था। नही तो इस प्रकार अर्कट का पथ निष्कटक कर मै चला नही जाता। वहुत देर हो जाने के पश्चात् भी जव मै घर नही लौटा तो अवश्य ही मेरे पिताजी समुद्र तट पर मुझे खोजने आये होगे। शायद मेरे विपय में जाँच-पडताल करने माया एव अर्कट के पास भी पहुँचे होंगे। माया के मन में सहसा यह वात आयी होगी कि मै समुद्र में डूबकर मर गया होऊँगा। दूसरे दिन धीवरों ने अपने वडे-वडे जाल फैलाकर मेरी मृत देह का अनुसन्धान किया होगा और जव मेरा कोई चिह्न ही नही प्राप्त हुआ होगा तो माया मेरे लिये रोयी होगी। मेरी मृत्यु के लिये शायद उसने स्वय को ही दोषित समझा होगा। किन्तु नही, इसमे

उसका कोई दोष नही था। तभी सोचने लगा—मैं मरा नही हूँ, यह संवाद उस तक पहुँच सकता। लेकिन कोई उपाय ही नही था। जीवन साधु की वे सातों नौकाएँ लवण समुद्र के वक्ष को चीरती हुई वृहत् श्वेत राजहंस की भाँति तत्परता से सिंहलद्वीप की ओर अग्रसर हो रही थीं।

जीवन साधु ने जब मुझे पाया तब बहुत विलम्ब हो चुका था, नही तो वे मुझे अवश्य ही तट पर उतार देते। लेकिन अब क्या हो सकता था। एतदर्थ उनकी इच्छा हो या न हो, मैं उनके साथ ही रह गया।

देखते-देखते चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। जीवन साधु ने खूब व्यवसाय किया, खूब धन कमाया। कुछ धन मैंने भी कमाया। जीवन साधु ने ही कुछ लवग और दालचीनी मेरे नाम से खरीद दी थी। उसे विक्रय कर जो लाभ हुआ, वह मेरे नाम से ही जमा कर दिया था। किन्तु वही मेरा एकमात्र लाभ नही था। उस यात्रा में मैंने एक ऐसी वस्तु प्राप्त की थी, जिसका मूल्य मैं उस दिन नही जान पाया था। सिंहल के बन्दरगाह पर ब्रोच से आए हुए सुजानसिंह से मेरी घनिष्ठ मित्रता हो गयी थी। सुजानसिंह ब्रोच के विख्यात व्यवसायी हिमल का पुत्र था। मात्र एशिया माइनर में ही नही, भूमध्य सागर के उपकूलवर्ती विभिन्न स्थानों में उसकी कोठियाँ थी। आयोनियन और यवनो के साथ उसका व्यापार चलता था। उसी सूत्र में एकबार वह माइसन द्वीप गया था और वहाँ एक धीवर की कुटी में चन्दन काष्ठ की एक प्रतिमा देखकर सामान्य मूल्य में ही वहाँ से खरीद लाया। वही मूर्त्ति उसने उपहार स्वरूप मुझे भेंट की। बोला—"न जाने क्यो यह मूर्त्ति

तुम्हे देने की इच्छा हो रही है। यह मूर्त्ति अब तुम रखो। इसे जब भी देखोगे, मुझे याद करोगे।" उस मूर्त्ति को हाथ में लेते ही एक आनन्द मिश्रित वेदना जाग्रत हो गयी थी। पर, उस दिन उसका कारण नही जान पाया था। उस मूर्त्ति के गाढ़े चन्दन की सुगन्ध के साथ समुद्र के शैवाल की गन्ध जैसे मिल गयी थी।

जीवन साधु ने घर लौटना चाहा। अतः मै भी गृहमुखी हुआ। पर क्या सचमुच मेरी इच्छा घर लौटने की थी? फिर भी जिस प्रकार जीवन साधु के साथ आया था वैसे ही लौटने लगा।

यात्रा स्वच्छन्द थी। लेकिन सब दिन एक से नही बीतते। एक दिन सुबह उठते ही देखा—दक्षिण-पूर्व के कोने में कृष्णवर्ण एक खण्ड मेघ उठ रहा था। जो निकट खडा था वह बोला—"आज का दिन सुविधा-जनक नही है। वह जो मेघ देख रहे हो, वह अच्छा नही है। थोडी देर में अन्धड आएगा।" उसकी बात सत्य निकली। कुछ देर पश्चात् ही झंझावात उठा। पहले सो-सो की आवाजें आयी, फिर आया तीव्र झोंका। लगा जैसे झोंके से नौकाएँ ही उलट जायेंगी। परन्तु नौकाओ के पाटनी ने कसकर हाल पकड रखा था झोंका आने के पूर्व ही माझी ने पाल उतरवा दिये थे। अतः पाल रहित नौकाओ के उलटने का भय नहीं था। पर उसके बाद जो विपद आयी, वह थी, समुद्र की लहरें। तीव्र वायु मे लहरें भी जोर-जोर से उठने लगी। वे पर्वताकार लहरें नौकाओ पर आ-आकर गिरने लगी। लगा—जैसे नौकाएँ चूर-चूर हो जायेगी। कक्ष की छत से होकर लहरे नौका के दूसरे छोर पर भी पडने लगी। जब नौकाएँ लहरो के मध्य आ जाती तो लगता कि

अब हम लोग बचेंगे नही, पर लहरो के लौटते ही कुछ शान्ति मिलती। · कितनी देर ? फिर आती लहर। ऐसा लगा—जैसे राशि-राशि धुनी हुई रुई किसी ने समुद्र के चारो ओर बिखेर दी हो। दस-दस, बीस-बीस, तीस-तीस हाथ तक जल फूल उठता था। उस फूले हुए जल पर नौकाएँ मोचे के खोल की भाँति उठ रही थी। फिर उसी फूले हुए जल का मस्तक फाडकर फेन बाहर निकल-निकल आते। वे फेन बहने लगते। बहते-बहते दो कोस, पाँच कोस, दस कोस तक जाकर पुनः जल में विलीन हो जाते और रह जाता दूध की भाँति श्वेत जल और समुद्र का कर्ण-बधिर गर्जन। मैने चारो ओर दृष्टि दौडायी। देखा—कोई रो रहा था, कोई चीत्कार कर रहा था, कोई माझी को दोषी ठहरा रहा था, कोई कै कर रहा था, कोई संज्ञाहीन होकर गिर पडा था। कौन किसको सान्त्वना देता, कौन किसकी परिचर्या करता। सबकी स्थिति तो एक-सी ही थी।

प्रकृति का वह ताण्डव नृत्य कब तक चला कुछ कह नही सकता क्योंकि मै भी तो एक समय मूर्छित हो गया था। किन्तु इतना ज्ञान अवश्य था, जिसमें मनुष्य प्राण-रक्षा के लिए तृण खण्ड का भी आश्रय ले लेता है। तभी तो जब सज्ञा लौटी तो पाया कि मै एक काष्ठ खण्ड का आश्रय लिये बहा चला जा रहा था। कब से बहता चला आ रहा हूँ, ज्ञात नही। नौकाओ के अन्यान्य लोगो का क्या हुआ, यह भी विदित नही। देखा—सिर पर नक्षत्र टिम-टिम कर रहे थे। मुझे माया याद हो आयी। सोचने लगा—मृत्यु से पूर्व क्या उसे एक बार देख सकूँगा ? क्योंकि बचने की आशा अधिक नही थी। कहीं कोई किनारा नजर नही आ रहा था। इस अथाह समुद्र में कौन मेरा उद्धार करेगा ?

मेरी समस्त चेतना जैसे अवसित होती जा रही थी। एक गहन तमिस्रा के मध्य में डूबा जा रहा था। डूबते-डूबते लगा जैसे एक स्वप्न देखा। देखा—किसी की आर्द्र केशराशि मेरे चारो ओर प्रलम्बित हो गयी थी। उसकी श्वाँसें मेरी श्वासो से टकरा रही थी। मैंने आँखें खोली। सिक्त उत्तरीय के अतराल से एक दीप्तिमय दीप-ज्योति-सी नारी अपलक दृष्टि से मेरी ओर देख रही थी। मैंने उसे याद करने की कोशिश की। पहले तो उसे याद नही कर पाया। पर वह माया तो नही थी। लग रहा था, जैसे उसे कही देखा था। उसकी आँखों मे आकर्षण था, हृदय में ऊष्णता। तभी सहसा याद आया—वह थी मधुरा। वही मधुरा जो वहन होने पर भी मेरी सगिनी थी। वह मुझसे प्रेम करती थी। वही तो एक दिन वोली थी—'अमृत! जिस दिन से यह चन्दन मूर्त्ति घर पर आयी है, उसी दिन से तुम कैसे हो गए हो। अतः अव इस चन्दन मूर्त्ति को घर पर मत रखो। जल में फेंक दो इसे।' पर मै उस मूर्त्ति को जल में नही फेक सका था। वस उसे कपडे में लपेटकर छाती में छुपाये रखा। उसे स्पर्श करने की चेष्टा की पर कर न सका। शायद पुनः संज्ञाहीन हो गया था। उस मूर्च्छित अवस्था में भी सुन पा रहा था, जैसे कोई किसी से कह रहा है—"अभी इसका श्वास चल रहा है। वचने की सम्भावना है, यदि उस सूखी वालू तक इसे ले जा सकें तो।"

जव संज्ञा लौटी तो प्रभात हो रहा था। सूर्यदेव की लोहित किरणो ने अन्धकार के घन आवरण को छिन्न कर डाला था। दिनकर जव आकाश में ओर ऊपर उठ गये, तो शरीर में कुछ ऊष्णता वोध

हुई। मैने आँखें खोली। मुझे आँखें खोलते देखकर वह रमणी मेरे और सन्निकट आ गई। बोली—"आर्य! अब आप कुछ स्वस्थ हैं?"

मै उस समय इस बात का कोई प्रत्युत्तर नही दे पाया। मेरे मस्तिष्क की चिन्तनधारा जैसे विशृंखल हो गयी थी। मुझे मधुरा क्यो याद हो आई? किन्तु मैंने कहीं इसे देखा है, ऐसा स्मरण नही हो पाया। फिर भी उसके व्यवहार में कही कुछ दुराव नही था। वह मुझे कितनी अपनी और कितने समय की परिचिता-सी लगी।

वह मुझे कातर भाव से अपनी ओर देखते हुए बोली—"आर्य! अभी आप कुछ विश्राम करें। मैंने परिचारिका को दूध लाने के लिए भेजा है। दुग्धपान के पश्चात् जब आप कुछ शक्ति अर्जित कर लेंगे, मैं आपको अपने घर ले जाऊँगी" कहती हुई वह मेरे मुँह की ओर निहारने लगी।

मैने फिर आँखें मूद ली। शायद उसी के विषय मे सोच रहा था। मुझे वह समुद्रोत्थित सुधा-लक्ष्मी-सी प्रतीत हो रही थी। ओह! कैसा अमृतस्रावी मुख था। दूसरे ही क्षण देखा, उसकी घनकृष्ण केश-राशि मुखमंडल पर विश्रस्त हो गयी थी। वृहत स्फीत नेत्र आनत-से थे। प्रवाल ताम्र अधरयुगल दृढ भाव से आवद्ध थे। पाण्डुर कपोलों की रोमावली उद्भिन्न हो उठी थी। ताम्र चिवुक रह रहकर काँप रहा था। मै अब रह न सका। शायद मै चिल्ला उठा था। तभी पुनः उसका कण्ठ-स्वर सुनायी पडा—"आर्य। आपकी देह क्लान्त है। सूर्यातप तीव्र हो रहा है। अतः वालुकाराशि तप्त हो उठी है। परिचारिका दूध ले आयी है। आप इसे पान कर मेरे घर चलिए। और जब तक आप स्वस्थ नही हो जाते है, वही अवस्थान करिए।"

मैने आँखे खोली। परिचारिका के हाथ से लेकर दुग्धपान किया। फिर समस्त शक्ति एकत्रित कर उठ बैठा—खडे होने की भी चेष्टा की, पर खडा न हो सका। तव उसने और परिचारिका ने मुझे हाथ पकड कर उठाया। फिर उन्ही के कन्धो पर अपना भार डाले मै उनके साथ चल पडा।

मै पुनः संज्ञाहीन हो गया था। अत. जव संज्ञा लौटने लगी तो प्रतीत हुआ एक शुभ्र दुग्ध-धवल शय्या पर सोया हूँ। मेरे चारो ओर अजस्र लहरें उठ रही हैं, टूट रही हैं—जल दुग्ध-सी श्वेत। शख धवल फेन दूर-दूर तक विखर रहा है। तो क्या, मैने जिस क्षीर समुद्र के वारे में सुना था, वह यही है? लगा—मै क्षीर समुद्र में सोया हूँ और कोई मेरे पैर दवा रहा है। मैने नेत्र उन्मीलित किये। देखा उसके विशाल नेत्रद्वय अश्रुपूर्ण थे, कण्ठ वाष्प-गद्‌गद्, मुख-मंडल रक्तिम आभा से उद्‌भासित। उसका हाथ पकडना चाहा· ·पर पकड न सका, वस अस्फुट स्वर में आर्त्तनाद कर उठा—"मै कहाँ हूँ?"

मुझे वोलते देखकर वह सन्निकट आई। अपने कोमल हाथों को मेरे वक्ष पर रखा, फिर धीरे से कान में वोली—"आप निरापद हैं, कोई चिन्ता मत करिए।"

उसके सूक्ष्म कुन्तलो ने मेरे कपोल स्पर्श किए। पुनः तन्द्रा ने मुझे घेर लिया।

आज आश्चर्यचकित-सा सोचता हूँ—उस दिन किसने मेरा हाथ पकडकर कलिंग देश के कंचनपुर के समुद्र-तट पर ला फेंका था? क्या वह एक दुर्घटना थी या सुचिन्तित परिकल्पना? यदि ऐसा नही था तो क्यों देवदासी शिवयशा जो कि समुद्र स्नान को आयी थी, मुझे समुद्र

से निकालती ? क्यों परिचर्या कर स्वस्थ करती ? उस दिन तो इन सवका कोई अर्थ ही नही खोज पाया था, पर आज सव कुछ जैसे एक महा अर्थ, एक महान सार्थकता में पर्यवसित हो गया है। जिस चन्दन मूर्त्ति को मैंने समुद्र जल में खो दिया था, उसका पुनरुद्धार भी तो मुझे ही करना था—मधुरा, जिसने अपना समग्र हृदय दान किया था, उसे भी सार्थकता के पथ पर अग्रसर करना मेरा ही कर्तव्य था। शिवयशा के घर मैं एक मास से भी अधिक रहा। शिवयशा ने देवचरणो में अपने जीवन को उत्सर्ग कर रखा था पर मुझे पाने के पूर्व वह उस उत्सर्ग को समझ नही पायी थी और मैं ही क्या तव यह समझ पाया था ? यह अहकार मुझे तव भी नही था, आज भी नही है। अहंकार, लज्जा, भय, घृणा कुछ भी नही है। मैं तो हर जीवन में ही स्वयं को खोजता आया हूँ। वहाँ देवदत्ता, रदनिका, मधुरा किसी का भी अस्तित्व नही, माया का भी नही—वे सव दर्पण मात्र हैं। मेरा प्रतिविम्व उनमें कैसे उद्भासित हो उठा, यही देखने की चेष्टा करता आया हूँ। पर उन दिनों यह सव कुछ नहीं जानता था। ताम्रलिप्त के समुद्र-तट पर किसने मेरे भीतर से कहा था—'समुद्रसैकत पर गृह-निर्माण करने से क्या लाभ ?' पर उस दिन इसका अर्थ कहाँ समझ पाया था। हम जो कुछ करते हैं, सव कुछ वालू के गृह-निर्माण की भाँति ही तो व्यर्थ है पर वह भी सत्य की एक दिशा है। देख रहा हूँ, मेरी समस्त निरर्थकता सार्थकता के पात्र को भर रही है। उसी आनन्द में पक्षी गाते हैं, नदी प्रवाहित होती है, शिशु हसता है, युवक युवती का आलिंगन करता है ? मनुष्य एक-दूसरे से प्रेम करता है। उसी आनन्द की विराट लहरें मेरे चारों ओर टूट रही हैं। मैं उसी आनन्द में डूवा जा रहा हूँ।

शिवयशा बोली—"तुम क्या कल प्रभात में ही इस स्थान का परित्याग करोगे ?"

बोला—"हाँ ! तुम्हे बहुत कष्ट दिया अब और कष्ट देना नही चाहता।"

कह तो गया पर स्वयं-ही-स्वयं में संकुचित होने लगा। क्या यह कहने जैसी बात थी ? शिवयशा ने मेरे लिए क्या नही किया। उसने मुझे नवीन जीवन दिया। मुझे स्मरण हो आया वह दिन, जबकि तीन दिनो के पश्चात् मेरी निद्रा भंग हुई थी और वह मेरे पाँवो के पास बैठी थी। उसकी बडी-बडी आँखें जैसे धँस गई थी, मुखमंडल पीला हो गया था, कपोल-तल विवर्ण हो उठे थे। निश्चय ही वह इन दिनो सोयी नही थी। उसके जागरण क्लान्त रक्तवर्ण नेत्र धूलि लुण्ठित पलाश पुष्प की भाँति हो रहे थे। वह वही बैठी अपलक मेरे मुख की ओर निहार रही थी। उस दृष्टि से कारूण्य-धारा प्रवाहित हो रही थी। मैने स्पष्टतः अनुभव किया था, मेरे आँखें खोलते ही उसका रोम-रोम इस प्रकार उल्लसित हो उठा था मानो शोभा के समुद्र में ज्वार आ गया हो। मैने उठकर बैठना चाहा—पर उसने उठने नही दिया। उसके स्नेहसिक्त नयन-बाष्प बिंदुओ से आप्लावित हो गए। म्लान मुख-मंडल रक्तिम होने लगा था। समग्र सत्व से एक कातर प्रार्थना प्रतिध्वनित हो रही थी—उसके मुख से कोई शब्द ही नही निकल सका—मात्र कोमल हाथो से मुझे रोका। कण्ठ था अवरूद्ध, दृष्टि थी कातर, करतल स्वेद से आर्द्र। मेरी भी उठने की शक्ति नही थी। अतः पुनः आँखें बन्द कर ली। सोचने लगा—मैने उसे यह क्या कह डाला—'तुम्हें कष्ट नही दूँगा।' मै स्वय में जैसे समाया जा रहा

था। किन्तु उसने इसे अन्य रूप में ग्रहण नही किया। वह धीरे-धीरे बोली—"इसमें कष्ट की क्या बात है? तुम्हारी सेवा कर सकी, यह तो मेरा सौभाग्य है। मैं तुम्हारे लिए सब कुछ परित्याग कर सकती हूँ।"

इससे अधिक सत्य और क्या था? मै जानता हूँ मेरे लिए उसे बहुत कुछ परित्याग करना पड़ा था। शायद संसार की अनेकानेक विडम्बनाएँ भी सहन करनी पड़ेंगी और यह भी जानता था कि वह सहन-शक्ति उसमें थी।

मैंने दूसरे दिन सुबह ही कंचनपुर परित्याग कर वाराणसी की राह पकड़ी। 'करतल भिक्षा तरुतल वास' ऐसा ही तो रहा है मेरा जीवन। अतः इसके लिए कोई उद्वेग नही था। किन्तु न जाने क्यों, कचनपुर का परित्याग करते समय माया बार-बार याद आ रही थी। एक बार तो ताम्रलिप्त जाने की इच्छा की ··पर मन में भय जागा, न जाने उसे किस रूप में देख पाऊँ? अतः उस इच्छा को दबा दिया।

किन्तु भवितव्यता की शक्ति अलंघ्य है। यह इच्छा एक दिन पूर्ण हुई। मै वाराणसी के मणिकर्णिका घाट पर बैठा धप्-धप् जलती हुई एक चिताग्नि की ओर देख रहा था। सन्ध्या का प्रकाश समाप्त हो गया था। किस की मृत देह जल रही थी, नही जान पाया पर वह चिताग्नि न जाने क्यों मुझे बार-बार मनुष्य जीवन की नश्वरता स्मरण करवा रही थी। मै उसमें इतना तल्लीन हो गया था कि जान ही नही पाया कब अमानिशा की वह रात्रि गहन हुई, कब प्रबल झंझावात ने नदी के जल को आलोड़ित कर डाला। एक निविड तमिस्रा ने पृथ्वी और आकाश को ढक रखा था। वह चिताग्नि भी जल-जलकर बुझ

गई थी। सहसा देखा—अस्पष्ट छाया की भाँति एक रमणी मूर्त्ति मणिकर्णिका घाट की सीढ़ियों से ऊपर उठ रही है। जैसे ही वह मेरे सन्निकट आयी, विद्युत चमक उठी। मै स्पष्टतः देख पाया उसे उस आलोक में। वह माया थी। उसका मुख वेदना क्लिष्ट होने पर भी शान्त था। शायद वह भी उस आलोक में मुझे पहचान गयी थी। कुछ कहने के लिए उसके ओष्ठ स्फुरित हुए, चरण द्विधाग्रस्त। किन्तु पर मुहूर्त्त में ही उसने स्वयं को सम्हाल लिया। फिर वह जिस प्रकार धीरे-धीरे ऊपर आयी थी, उसी प्रकार मेरे पार्श्व से गुजरती हुई और ऊपर चली गयी।

हाय! तो क्या इतने दिनो तक इस चन्दन मूर्त्ति को मैने व्यर्थ ही वहन किया था?

सप्तम उच्छ्वास

कंचनपुर स्थित जिनवसति संलग्न मठ में क्षुल्लक रूप में मैंने क्यों प्रवेश किया था यह उस दिन नही जानता था। मैं शैलोद्भव राजा धर्मराज का अनुज हूँ। मेरा नाम विग्रहराज है। किन्तु मेरा यह नाम मेरा अपवाद था। क्योंकि युद्ध-विग्रह में मेरी रुचि किसी काल में ही नही थी। जिस समय मैंने जैन-मठ में प्रवेश किया, लोगो ने सोचा जैनाचार्य प्रवुद्धचन्द्र के धर्मोपदेश ने मुझे अर्हत् धर्म की ओर आकृष्ट किया है, किन्तु जाति-स्मरण ज्ञान के आधार पर मै यह कह सकता हूँ कि वह कथन सत्य नही था। अर्हताचार्य नसीचन्द्र के एक वस्त्रधारी (एक मटी) शिष्य प्रवुद्धचन्द्र ने मुझे आकृष्ट नही किया था वल्कि मुझे आकृष्ट किया था कंचनपुर की जिनवसति में रक्षित चन्दन मूर्त्ति ने। उस मूर्त्ति को जिस दिन मैंने प्रथम वार देखा, उसी दिन से वह मुझे अपनी ओर इस प्रकार आकर्षित करने लगी थी कि मुझे गृह-अवस्थान कष्टकर प्रतीत होने लगा। अन्ततः मुझे गृह-परित्याग करना ही पडा। उस दिन सभी ने मेरे इस कार्य का विरोध किया। सभी कह रहे थे कि मैं एक निर्वोध वालक की भाँति यह कार्य, कर रहा हूँ, क्योंकि प्रथम तो अर्हत धर्म मेरा कुलगत धर्म नही था, हम शिवोपासक थे। फिर इतनी अल्पायु में ससार परित्याग करना भी उचित नही था। किस वस्तु का अभाव था मुझे कि मै क्षुल्लक वनता?' सचमुच ही मुझे कही कोई अभाव नही

था। मेरे ज्येष्ठ भ्राता की पत्नी कल्याणी देवी तो मुझे पुत्रवत् प्यार करती थी। उन्होंने मुझे बहुत समझाया था, किन्तु जब देखा कि मैं दृढ-प्रतिज्ञ हूँ, तो उन्होने मुझे मात्र अनुमति ही नही दी, आचार्य प्रबुद्धचन्द्र के जैन-मठ और वसति के लिए पचास ग्राम का राजस्व भी अनुदान स्वरूप प्रदान किया। लोगो ने इस कार्य को कल्याणी देवी का अर्हत् धर्म के प्रति अनुराग समझा। किन्तु मैं जानता हूँ कि इस अनुदान के पीछे था उनका मेरे प्रति अपार स्नेह। ताकि मठ में कोई मेरा निरादर न करे और मैं वहाँ ससम्मान रहूँ। इसी के लिए तो था वह अनुदान। पर ये सब बातें उस दिन कहाँ ज्ञात थी।

ये कल्याणी देवी कौन थी, आज मैं यह भी बता सकता हूँ। मधुरा, जो शिवयशा हुई थी—उसी ने कल्याणी देवी के रूप में जन्म ग्रहण किया था। आज आश्चर्यचकित-सा सोचता हूँ, जिन्हें हम अपने चारों ओर देखते हैं उन्हें जन्म-जन्म में किस-किस रूप में पाते हैं। उनके प्रेम, प्यार, स्नेह, घृणा, अवमानना सभी का इतिवृत्त मेरे मन के गहन अन्तराल में लिपिबद्ध है। यही कारण है कि कभी किसी को देखते ही भले ही वह अपरिचित क्यों न हो हृदय उल्लसित हो उठता है। उसे सब कुछ दे डालने को मन समुत्सुक हो जाता है; और कभी, चाहे वह अपना निजी व्यक्ति ही क्यों न हो, देखते ही हृदय स्वयं ही संकुचित हो जाता है। उसका साथ भी अच्छा नही लगता। इच्छा होती है उससे कही दूर भाग जाएँ।

मुझे वह दिन याद आ रहा है, जिस दिन प्रथम बार मैंने उस चन्दन मूर्त्ति को देखा था। उस दिन कार्त्तिक-पूर्णिमा थी। रथ-यात्रा का

दिन था। रथ-यात्रा परिदर्शन के लिए प्रबुद्धचन्द्र ने मेरे अग्रज धर्मराज को आमंत्रित किया था। वे भी कल्याणी देवी को लेकर उस रथ-यात्रा को देखने गए थे। मैं भी उनके साथ ही था। वे तो जिनवसति से शोभा-यात्रा के प्रारम्भ होते ही राजप्रासाद को वापस लौट गए, किन्तु मैं उस शोभा-यात्रा के साथ था। भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा को रथ पर स्थापित कर समस्त नगर की प्रदक्षिणा करती हुई वह शोभा-यात्रा जब पुनः जैन-मठ में लौटी, उस समय सन्ध्या हो रही थी। प्रबुद्धचन्द्र प्रतिमा को नीचे उतार कर जिस समय मठ में अस्थायी भाव से सस्थापित करने की व्यवस्था मे निमग्न थे, मैं उस समय जन-समूह से निकलकर जिनवसति में प्रविष्ट हुआ। वह मन्दिर विशाल नही होने पर भी अत्यन्त सुन्दर और परिष्कृत था। उसकी प्राचीरें थी स्फटिक की भाँति श्वेत, स्वच्छ और शीर्षखण्ड था बडी सुन्दरता से अलंकृत। उसके नीचे प्रस्फुटित पद्मों के अविरल प्रवाही स्रोत का चित्र था। और प्रत्येक पद्म के प्रत्येक विन्दु पर निर्मित हस, मत्स्य, गज, शार्दूल भी उसी स्रोत के अनुकूल तैर रहे थे। छत का समग्र स्थान जुडा हुआ था एक सूक्ष्म कमलिनी लता के विस्तार से, जिसके पत्ते-पत्ते पर किसी न-किसी प्राणी की मूर्त्ति चित्रित थी। मै वहुत देर तक खडा-खडा उसे देखता हुआ चित्रकार की अद्भुत कला पर मुग्ध वना रहा। फिर मन्दिर के गर्भ-गृह में प्रवेश किया। गर्भ-गृह के भीतर मूलवेदी पर भगवान आदिनाथ की प्रतिमा स्थापित थी। सचमुच वडी मनोहारी थी वह प्रतिमा। वहुत देर तक मै उस प्रतिमा को वेसुध-सा निहारता रहा। तदुपरान्त, भक्ति-भाव से उसे वन्दन किया। उस समय गर्भ-गृह अन्धकारमय होने लगा था। तभी

पुजारी ने प्रवेश कर घृत का एक विशाल प्रदीप प्रदीप्त कर दिया। उस प्रदीप का मन्द आलोक चारो ओर विकीर्ण होते ही सभी छोटी-बडी धातु और पाषाण-प्रतिमाएँ झिलमिल-झिलमिल करने लगी। मै उन प्रतिमाओ को गौर से देखने लगा। उस दिन उत्सव दिवस होने पर भी वसति जन-शून्य थी। कारण सभी तो मठ मे भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा को लेकर ही व्यस्त थे। विविध यंत्रो मिश्रित उनका कल-कोलाहल मेरे कानो में प्रवाहित हो रहा था। किन्तु वह कोलाहल वह चाचल्य गर्भ-गृह स्थित जिन मूर्त्तियो को जरा भी विक्षुब्ध नहीं कर पा रहा था। उस गम्भीर प्रशान्ति को मै भी स्वयं में अनुभव करने लगा था। सहसा मेरी दृष्टि एक कोने में स्थापित एक चन्दन मूर्त्ति पर जा पडी। एक वारगी ही मेरी समस्त चेतना जैसे वही केन्द्रस्थ हो गयी। मै विमूढ-सा कब तक उस मूर्त्ति को देखता रहा, कुछ ज्ञात नहीं। तभी पुजारी की पुकार से मेरी चेतना लौटी—वह बोल रहा था—"छोटे राजकुमार! बुरा न माने, मन्दिर बन्द करने का समय हो गया है।"

बुरा मानने को था ही क्या? अतः मै गर्भ-गृह से बाहर आया। तब लगा कि सुगन्धित धूप वर्त्तिका से उठते हुए धुएँ ने गर्भ-गृह की वायु को बोझिल बना रखा था।

मैने पुजारी से चन्दन मूर्त्ति के विषय में जिज्ञासा की। उन्होने कहा—"यह चन्दन मूर्त्ति सौ वर्ष पूर्व समुद्र जल में प्रवाहित होकर आयी थी। देवदासी शिवयशा ने इसे समुद्र तट पर पाया था। उसी ने इसे जिनवसति को दान कर दिया था। तब से यह मूर्त्ति यहाँ सुरक्षित

है।" मैने शिवयशा के विषय में पूछा, किन्तु वह इस विषय मे अधिक कुछ नही वता सका।

आज मै कह सकता हूॅ—उस दिन पुजारी ने जो कुछ वतलाया था, वह अर्द्ध सत्य था। क्योकि न तो वह मूर्त्ति जल में प्रवाहित होकर वहाँ आई थी, न ही शिवयशा ने उसे प्राप्त किया था और न ही उसे जिनवसति को उसने प्रदान किया था। मैने वह मूर्त्ति शिवयशा को नही दी थी। यदि देता तो भी वह उसे ग्रहण नही करती। मधुरा ने तो इसे जल में फेंक ही देने को कहा था। इसे जो रख सकती थी वह थी माया। उसे मैने अन्तिम वार मणिकर्णिका घाट पर देखा था। वह यदि मुझसे वात करती तो क्या परिणाम हुआ होता यह मै नही कह सकता। किन्तु जव वह मुझसे वात किए विना ही घाट से ऊपर उठी और चली गयी तो मै विमूढ की भाँति घाट की सीढियो पर ही वैठा रह गया। वरसाती और तूफानी वह रात मैने मणिकर्णिका घाट पर ही व्यतीत की। दूसरे दिन सुवह माया की खोज में निकला—पर उसे कही खोज नही पाया। तदुपरान्त, विभिन्न तीर्थ स्थानो में पर्यटन करता-करता फिर कंचनपुर आया। इसके पीछे शायद प्रच्छन्नभाव से शिवयशा का आकर्षण रहा हो पर मै किसी उद्देश्य को लेकर कचनपुर नही आया था। लेकिन जव कंचनपुर आ ही गया था तो शिवयशा का अनुसन्धान लिए विना भी नही रह सका। किन्तु उसका अनुसन्धान करते समय जो कुछ सुना वह मेरे लिए मर्मान्तिक हो उठा। सुना—उसने देवदासी होकर भी एक अपरिचित पुरुष को एक मास तक अपने घर में आश्रय दिया था। अतः उसके चरित्र पर लाँछन लगा कर उसे त्रिभुवनेश्वर शिव मन्दिर से निष्कासित कर दिया

गया। उस समय वह कहाँ थी कोई नही बता सका। कितने दिनो तक उद्भ्रान्त की भाँति मैं उसे खोजता रहा। तब कहाँ जानता था कि उसने मन्दिर से विताडित होकर कलिंग का ही परित्याग कर दिया था और श्रमणिका बनकर विजयवाडा की नादम्बी वसति में प्रवेश कर लिया था। उद्भ्रान्त-सा घूमता हुआ ही मै इस मठ में आया था और यह सोचकर कि अब इस चन्दन मूर्त्ति को रखकर क्या करूँगा, वह मूर्त्ति जिनवसति को मैंने ही प्रदान कर दी थी। श्रमणाचार्य नसीचन्द्र के गुरु उस समय जीवित थे। मैंने उनसे शिवयशा के विषय मे कहा था। लगता है शायद उसी से शिवयशा और समुद्र से प्रवाहित होकर आने की कहानी चन्दन मूर्त्ति के साथ जुड गयी थी। जो कुछ भी हुआ हो, पर मे जब उस दिन जिनवसति से घर वापस लौटा तो बहुत रात हो गयी थी। आकाश से कार्त्तिकी पूर्णिमा की रजत कौमुदी धारा निर्मल स्रोत की भाँति प्रवाहित हो रही थी। उस कौमुदी धारा में स्नात होने पर भी मेरे चित्त को शान्ति नही मिल रही थी। शिवयशा और चन्दन मूर्त्ति की कहानी रह-रहकर मन मे कौंध रही थी।

मेरे प्र-प्र-पितामह त्रिभुवनराज ने त्रिभुवनेश्वर शिव मन्दिर की प्रतिष्ठा की थी। महन्त, सेवाइत, पुरोहित और अन्यान्य सेवको की भाँति देवदासी भी उस मन्दिर का एक अंग था। जो श्रेष्ठ सुन्दरी होती, विशुद्ध जीवन यापन करती, उन्हें देवदासी के पद पर अभिषिक्त किया जाता था। किन्तु वे किस परिमाण में विशुद्ध जीवन यापन करती थी, यह मैं नही कह सकता। कारण मेरे प्र-प्र-पितामह ने शुद्ध तपश्चर्या के लिए जिन्हे महन्त पद पर प्रतिष्ठित किया था, उनकी सेवा के लिए उन्हें दस ग्राम, पाँच हजार स्वर्ण मुद्राएँ, रजत-छत्रादि की भाँति ही

वारह वारागनाएँ भी प्रदान की थी। आगे जाकर वे ही देवदासी नाम से परिचित हुईं। किन्तु कालक्रम से देवदासियो की सख्या वारह तक सीमित नही रही। कारण फिर तो अतीव सुन्दरियो को देखते ही उन्हे वलपूर्वक लाकर देवदासी वना दिया जाता और नृत्य-गीतादि में निपुण कर और अधिक मनोहारिणी वना दिया जाता। विशेष-विशेष पर्वोपलक्ष में वे देवमूर्त्ति के सम्मुख नृत्य करती। किन्तु नृत्य को देखने का सौभाग्य जन-साधारण को नही होता। इस नृत्य को देखने का अधिकार मात्र उसे ही होता जिसे महाराज स्वमुद्राकित रोप्य कमल-कलिका प्रदान करते। यह कमल-कलिका ही नृत्यागन में प्रवेश करने का स्वीकृति पत्र था। मैंने दो वार देवदासियों का नृत्य देखा था। जिन्होंने उस नृत्य को नही देखा वे निश्चित ही रूप और कला के अपरूप समन्वय की कल्पना ही नही कर सकते।

मेरे अग्रज के दाहिनी ओर प्रधान महन्त का सिंहासन रक्षित था। वह सिंहासन पूर्णतया राजकीय ही था। मात्र वैराग्य का द्योतक व्याघ्र-चर्म उस पर विछा था। मेरा सिंहासन था वायी ओर। मैंने उसे कुछ पीछे की ओर रखने को कहा। मैं उसी सिंहासन पर आसीन उद्‌ग्रीव-सा देवदासियों के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। तदुपरान्त काँस्य-पटह की ध्वनि समुत्थित होते ही एक-एक कर तेंतीस देवदासियाँ उस नृत्यमण्डप में आकर उपस्थित हो गयी। मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था कि ऐसा अपार्थिव सौन्दर्य मानव देह का आश्रय ले सकता है। पुष्पो एव आभरणो से सुसज्जित वे मुझे मेनका, उर्वशी, रम्भा-सी प्रतीत होने लगी। उनमें किस पर दृष्टि स्थिर करूँ, कुछ सोच ही नही पाया। क्योंकि वे सभी समान रूपसी थी। उनके प्रवालवत्

लोहित अधर युगलो ने अनुराग समुद्र की तरगो की भाँति मोहिनी शक्ति धारण कर रखी थी। उनके कपोलो की रक्तावदात कान्ति मदिरा रस से पूर्ण, माणिक्य शुक्ति के सम्पुट को स्मरण करवा रही थी। उनके वृहद् कृष्ण नेत्र शतदल निवद्ध भ्रमरो से सुशोभित हो रहे थे। उनकी भ्रू लताएँ यौवन मदमत्त गजराज की मदराजि की भाँति तरंगायित थी। और ललाट पट पर मनः शिला का लोहित विन्दु अनुराग प्रदीप की भाँति प्रज्ज्वलित था। उन्होने लोघ्र-रेणु द्वारा अंसस्थानों का सस्कार अवश्य किया होगा। कारण उससे उत्थित चूर्ण माणिक्य कुण्डलो में सलग्न होकर ऐसे लग रहे थे मानो कर्णोत्पल से क्षरित मधु धारा में पद्मकिंजल्क चूर्ण प्रवाहित हो रहा है। ललाटमणि की लोहित किरणो में धुले हुए उनके कृष्ण केश राशि सायंकालीन मेघाडम्वर की भाँति दर्शको के चित्त को वलपूर्वक आकृष्ट कर रहे थे एवं लग रहा था जैसे कि एक अद्भुत मद धारा निखिल दृश्य जगत को विह्वल वनाए हुए है। देखा—वह विह्वलता अन्यान्य दर्शको की भाँति मेरी शोणित धारा में भी प्रवाहित हो रही थी।

तभी तो कह रहा था वे जिस परिवेश में जीवित थी, उसमें विशुद्ध जीवन यापित करना सम्भव नही था। किन्तु वह पाप वाहर प्रकट नही हो पाया था। और जव पाप वाहर प्रकट नही होता है तो वह पाप नहीं है ऐसी उनकी धारणा थी। यदि ऐसा नही था तो क्यो उन्होंने एक आर्त्त-पीडित व्यक्ति की सेवा के अभियोग में शिवयशा को दण्डित कर मन्दिर के वाहर निष्कासित कर दिया ?

मैने दूसरे दिन सुवह ही देवदासियो में शिवयशा की खोज

करवायी। किन्तु सहसा उसका सन्धान नही मिला। अन्ततः वहुत अनुसन्धान के पश्चात् एक वृद्ध परिचारिका द्वारा अवगत हुआ कि तदानीन्तन महन्त की शय्यासंगिनी होने से अस्वीकार करने के कारण उसके चरित्र को यह कहकर कलंकित किया गया कि उसने एक अज्ञात कुलशील व्यक्ति को निजगृह में आश्रय दिया था। अतः उसे मन्दिर को परित्याग करने का दण्ड मिला।

यह सुनकर मैं खिन्न हो गया। संसार के प्रति न जाने कैसी वितृष्णा वोध होने लगी थी। तदुपरान्त चन्दन मूर्त्ति का आकर्पण ? अतः मैंने क्षुल्लक वनकर जैन मठ मे प्रवेश किया। पर उस दिन नही जान पाया था कि तृष्णा को इतनी आसानी से परास्त नही किया जा सकता।

क्षुल्लक की नियमित दिनचर्या एव चन्दन मूर्त्ति की परिचर्या में मेरी जीवन नौका प्रवाहित होती रही। राजकुलोत्पन्न था इसलिए शायद प्रवुद्धचन्द्र अपनी मृत्यु के पूर्व मुझे आचार्य पद पर अभिषिक्त कर जाते, किन्तु हठात् सव कुछ विपर्यस्त हो गया। क्योंकि उस मठ से मैं निर्वासित हो गया था।

उस दिन भी शायद कोई पर्व दिन ही था। आचार्य प्रवुद्धचन्द्र का व्याख्यान समाप्त हुआ ही था कि एक-एक कर स्त्री, पुरुष, युवा, वृद्ध, वालक आ-आकर उन्हें प्रणाम करते व धर्मलाभ का आशीर्वाद प्राप्त करते। जाते समय वे हम लोगो को भी प्रणाम कर जाते थे। हम लोग भी उन्हे 'धर्म प्राप्त हो' कहकर आशीर्वाद देते थे। किन्तु हाँ, इस किन्तु की वात ही मैं कह रहा हूँ। वह मेरे समीप आकर

खड़ी हुई, तब तक मैंने उसकी ओर लक्ष्य नहीं किया था, पर जब प्रणाम करने के पश्चात् वह खड़ी हुई और उसके शुभ्र मुख पर मेरी दृष्टि गयी तो फिर उस दृष्टि को लौटा ही नहीं पाया। मेरी अन्तर्निहित चेतना में जन्म-जन्मान्तरों की स्मृतियाँ आलोड़ित हो उठीं। मुझे लगा जैसे मैंने इसे बहुत बार देखा है पर सोच नहीं पाया कि वीतभय में देखा या उज्जयिनी में, श्रावस्ती में या ताम्रलिप्त में। मेरा समस्त सत्व उन्मत्त की भाँति उसके प्रति धावित हो गया। एक मुहूर्त के लिए उससे आँखें भी मिली थीं। देखा—उसकी आँखों में भी वही विस्मय था, वही जिज्ञासा। वह दृष्टि आनत कर उस स्थान का परित्याग कर चली गयी और मैं वहीं निःशब्द प्रतिमा की भाँति बैठा रहा। उसे 'धर्म प्राप्त हो' कहना भी भूल गया। इतना ही नहीं, तत्पश्चात् कौन आया, कौन गया कुछ सुधि ही नहीं रही। यौवन भार से ईषत्-आनत सचारिणी पल्लविनी लता की भाँति उस तन्वंगी ने मेरे समस्त अंतर पर अधिकार कर लिया था। मेरे गुरुभ्राता कुलचन्द्र मेरी भर्त्सना करते हुए बोले—"शुभचन्द्र! यह तुम क्या कर रहे हो? क्या ऐसा करना उचित है? यह पथ घृणितों के लिए है। मुनियों का तो श्रेष्ठ धर्म है धैर्य। और तुमने उस धैर्य को एक क्षण में ही खो डाला। चिर जीवन की साधना धूल में मिला डाली। निष्फल है तुम्हारा ज्ञान, मिथ्या है तुम्हारा संस्कार। तुम कितने बड़े अन्धे हो कि कामवश होकर देख भी नहीं पा रहे हो, तुम पतन के किस प्रत्यन्त प्रदेश पर खड़े हुए हो। तुम्हारी चेतना क्या एक बारगी ही लुप्त हो गयी?"

एक बारगी ही तो लुप्त हो गयी थी मेरी चेतना। नहीं तो पुरुहुत, रोचनाभद्र के भाई, को कैसे नहीं पहचान पाता। इस पुरुहुत ने ही तो

रथ के चक्के के नीचे कुचल जाने से बचाकर 'अन्धे हो क्या' कहते हुए दूर धकेल दिया था। आज भी उसने मुझे अन्धा कहकर ही सम्बोधित किया था। किन्तु क्या मैं सचमुच ही अन्धा था? उस दिन मेरी आँखें नहीं थीं · पर आज? ज्ञानी शायद कहेंगे, आँखें होते हुए भी तुम्हारी आँखें नहीं थीं पर आज मैं ऐसा नहीं कहूँगा। आज मुझे जाति-स्मरण ज्ञान है। अतः मनुष्य और मनुष्य की पृथ्वी को ही सब कुछ नहीं मान सकता। और भी कुछ है इस दृश्यमान सौन्दर्य के उस पार, इस भासमान जगत के अन्तराल में, जिसे हम नहीं जानते, जो हमें नियत परिपूर्णता की ओर ले जा रहा है।

कुलचन्द्र ने मुझे धैर्य धारण करने का उपदेश दिया था, किन्तु धैर्य वही धारण कर सकता है जिसका स्वय पर कर्तृत्व है। जिसका स्वयं पर कोई कर्तृत्व ही नहीं वह कैसे धैर्य धारण करे? मैं उस समय की अपनी स्थिति की व्याख्या करूँ ऐसी कोई भाषा ही मेरे पास नहीं है। हर मुहूर्त्त पर्वताकार होकर मुझे कुचल रहा था। प्रति मुहूर्त्त लग रहा था यदि उसे नहीं देख पाया तो मेरे प्राण ही निकल जाएँगे। फिर भी बचा रहा, शायद इसलिए कि तब भी मन में कहीं एक क्षीण आशा मौजूद थी कि वह मठ में जिस प्रकार उस दिन आयी थी एक बार फिर आएगी, फिर देखूँगा उसे। इसी आशा में दिन व्यतीत होने लगे। पुस्तक के पृष्ठों की भाँति मैं एक-एक दिन को उलटता रहा एवं उसकी चिन्ता में विनिद्र रात्रियाँ काटता रहा।

अन्ततः एक दिन मेरी आशा पूर्ण हुई। उसे एक बार और देखा। मठ में नहीं जिनवसति में। देखा—वह उसी चन्दन मूर्त्ति के सम्मुख खड़ी होकर अंजलिबद्ध हाथों को ललाट पर लगाए भक्ति विह्वल हृदय

से उसे प्रणाम कर रही थी। और मैं? देहलीज के निकट खडा उस दृश्य को निहार रहा था। वह तद्‌गत होकर मृदुकण्ठ से स्तव पाठ कर रही थी, और वह स्वर मेरे कानों मे प्रवाहित हो रहा था। कितना माधुर्य था उस कण्ठ में बता नही सकता। पर उस कण्ठ-स्वर ने मेरी देह के अणु-अणु में प्रविष्ट होकर मुझे विकल बना डाला था। हठात् जैसे ही उसने आँखें फिरायीं, उसकी दृष्टि मुझ पर पडी। न जाने उसने मन ही मन क्या सोचा पर उसका मुख मुझे देखते ही लज्जा से पाटलिपुष्प की भाँति रक्तवर्ण हो गया। उसी रक्तिमा मे देखा उसका सौन्दर्य सहस्रगुणा वृद्धिगत हो रहा था। उस मधुर लज्जा से मेरे मन में आनन्द की लहर उमड पडी। लगा—जैसे मैंने अमृत सरोवर में स्नान किया है। मैं स्वय को इतना हल्का अनुभव करने लगा कि प्रतीत हुआ जैसे मैं मानस सरोवर की तरंग-तरंग पर बहा जा रहा था।

शायद मैं उसके निकट जाकर खडा हो जाता। उससे कहता—'शुभे! क्या तुम मुझे नही पहचानी? तुम्हें पाने के लिए मैं एक जीवन से दूसरे जीवन में होता हुआ भटकता आ रहा हूँ। क्या तुम्हे श्रावस्ती की वह वसन्त पूर्णिमा की रात याद नही?' पर तभी भग्नदूत की भाँति कुलचन्द्र ने आकर मुझे पुकारा। बोला—"आचार्य तुम्हे बुला रहे हैं।"

पल भर में ही मैं उस आनन्दलोक मे इस मृत्युलोक की धरती पर आ गिरा। उस अपरिचिता को कुछ भी नही कह सका। यद्यपि मेरा मन तो वही पडा रहा, कुलचन्द्र ने मेरी देह को अनुशासन की रज्जु में बद्धकर प्रबुद्धचन्द्र के सम्मुख उपस्थित किया। जाते-जाते भर्त्सना भरे

स्वर में बोला—"क्या तुम्हारा स्वयं पर जरा भी अंकुश नही ?" मैं इसका प्रत्युत्तर नही दे सका। मात्र बोला—"तुम्हें तो सब ज्ञात ही है। फिर क्यों मुझे लज्जित करते हो ?"

आचार्य के निकट जाते ही वे मुझे आग्रह सहित बोले—"शुभचन्द्र! मै कई दिनों से तुम्हारे विषय में सोच रहा था। तुम्हे साधना का मार्ग तो मैंने बता दिया है। किन्तु जप, ध्यान और निदिध्यासन के लिए एकान्त की आवश्यकता है। यह मठ उसके लिए अनुकूल नही है। अतः मेरी इच्छा है तुम कुछ दिन कुमारी पर्वत पर जाकर अवस्थान करो। कुलचन्द्र तुम्हारे साथ रहेगा। कल प्रभात में ही तुम लोग वहाँ के लिए प्रस्थान करोगे।"

मेरे मस्तिष्क पर जैसे वज्रपात-सा हुआ। सोचा—उन्होने वास्तविक बात कहकर मेरी भर्त्सना न कर बडी कुशलता से कंचनपुर से बहिष्कार कर डाला। शायद कुलचन्द्र ने उन्हे सब कुछ बता दिया था।

किन्तु मैंने दूसरे दिन कुमारी पर्वत के उद्देश्य से यात्रा नही की। उसी रात को मैंने मठ का परित्याग कर दिया। क्या करूँगा, कहाँ जाऊँगा यह स्थिर नही था। केवल उस अपरिचिता को देखने की और सन्निकट पाने की एक उदग्र कामना ने मेरे मस्तिष्क को आविष्ट कर रखा था। अतः कब और किस प्रकार कंचनपुर के उस समुद्र तट पर आ खडा हुआ जहाँ एक दिन समुद्र की लहरो ने मुझे ला फेंका था। तिथि भी शायद पूर्णिमा के आस-पास ही थी। देखा—अजस्र ज्योत्सना में समुद्र-सैकत झिलमिला रहा था। मै समुद्र की ओर देखता हुआ खडा था। समुद्रोत्थित विराट-विराट लहरें, तब न जाने क्यों रजतचूर्ण-

समावृत पारद प्रवाह की भाँति प्रतीत हो रही थी। मैं धीरे-धीरे समुद्र की ओर अग्रसर होने लगा। जितना ही अग्रसर होता गया समुद्र की लहरें उतनी ही स्तब्ध होकर सोपान श्रेणी की भाँति स्थिर होती गयीं। मैंने तभी उस सोपान श्रेणी पर आरोहण करना प्रारम्भ किया। जितना ही आरोहित होता गया, देखा—मेरे दोनों ओर लहरों की आघातों से चन्द्रमा का प्रतिविम्ब खण्ड-खण्ड होकर टूट रहा था, बिखर रहा था। और मैं उसी सोपान श्रेणी पर आरोहण करते करते अन्ततः खो गया। वह अपरिचिता माया ही तो थी।

अष्टम् उच्छ्वास

राजसभा से लौट रहा था। अचानक किसी रमणी की कंकतिका से च्युत हुए कुछ केश-पुज मेरी' देह पर आ गिरे। मैंने ऊपर की ओर देखा। देखा—अलिन्द पर खड़ी एक तरुणी केश प्रसाधन कर रही थी, उसी की ककतिका से च्युत हुए थे वे केश-पुंज। ऊपर देखते समय उसकी दृष्टि से मेरी दृष्टि का विनिमय हुआ।

संसार में ऐसे कई क्षण आते हैं और चले जाते हैं, किन्तु क्या वे स्मृति के इतिहास में चिरकाल के लिए स्थिर हो पाते हैं? ऐसी कितनी ही युवतियाँ प्रतिदिन केश प्रसाधन कर कंकतिका में अटके केश पुंजो को निकालकर हवा में प्रवाहित कर देती हैं। पर कोई उसे स्मृति में सहेज कर रख पाता है? नही रख पाता। किन्तु मैंने आज भी उसे अपनी स्मृति में सहेज रखा है। क्योंकि दूसरे ही क्षण उसने अपनी मृणाल-सी उंगलियो से विपर्यस्त केश राशि को संयत कर मुझे जिस दृष्टि से देखा, उस दृष्टि ने चन्द्र किरण की भाँति एक स्वच्छ प्रभा से मेरे वाह्य और अन्तर को अपरिमेय आनन्द से भर दिया था।

मैं हूँ कन्नौज के प्रतिहार वशीय प्रथम राजा भोज का सभाकवि जो कि आदिवराह नाम से भी इतिहास में प्रसिद्ध हैं। उनका राज्य पंजाव के करनाल से उत्तर वंग और हिमालय से नर्मदा पर्यन्त विस्तृत था। यह राज्य उन्होंने अपने पूर्वजो से प्राप्त नही किया था, वल्कि

अपने असीम बल से विजय कर, मरुस्थल स्थित उनकी राजधानी भिनमाल को कन्नौज मे स्थानान्तरित कर दिया था। उनका काव्य और साहित्य प्रेम भी जन समाज में विख्यात् था। वे कवियों को अयाचित अर्थदान करते। उनकी सभा में अनेक कवि थे। मैं भी उन्हीं में से एक था।

मेरा नाम है जयन्त।

मैंने अब तक नारी सौन्दर्य के वर्णन में पाँच सौ से अधिक श्लोको की रचना की है। पर अलक संवरण के समय नारी का जो रूप प्रस्फुटित होता है; जैसा कि आज मैंने देखा, उसकी तो कभी कल्पना ही नही की थी। आज उस रूप को प्रत्यक्ष पाकर सोच रहा था—प्राची दिग्वधु का अलक सवरण और पूर्ण चन्द्र के उदय के साथ इस रमणी मुख की तुलना करते हुए एक श्लोक की रचना कर महाराजा भोज को भेंट करूँगा। किन्तु तभी देखा—उसने अपने कर्णमूल से केतकी पत्र लेकर उसे दाँतो से काटा और मेरे सम्मुख फेंक दिया। फिर अपने उत्तरीय को नदी प्रवाह की भाँति आवर्तित कर कृष्ण केश समूह को दिखाया और अन्त मे अपने अधरों पर तीन ऊगली रख कर कक्ष में प्रवेश कर गई। सोचने लगा—उसने मुझे कुछ सकेत किया है। पर उस समय उस सकेत का कोई अर्थ ही नही समझ पाया। अतः उसी का चिन्तन करते-करते घर लौटा। खेद है कि मै विदग्ध होकर भी मूर्ख था, रसिक होकर भी सके त को समझने में असमर्थ था।

यमुना के सन्निकट ही था मेरा कुटीर जहाँ कि मैं अकेला ही रहता था। क्योंकि मैंने अपना घर-ससार नही बसाया था। पर ऐसा

भी नहीं था कि मैं पूर्णतः अकेला ही रहता था। कारण कुटीर के चारों ओर मैंने जो उद्यान लगाया था उसके लिए एक मालिनी थी। यद्यपि उस मालिनी को मैंने ही नियुक्त किया था; फिर भी वह थी मेरी अभिभाविका की भाँति और मैं था उसका आश्रित। वह केवल उद्यान का रक्षण और माल्य सृजन ही नहीं करती, मेरा समस्त गृह-कार्य भी वही करती थी। मेरे बाहर से आते ही पाँव धोने को जल लाती, मेरे लिखने के समस्त उपादान मसिपात्र, तालपत्र, लेखनी आदि-आदि एकत्रित कर रखती, पुष्पों से मेरी शय्या सज्जित करती। उसकी एक और आदत थी, मैं सुबह जब तक लिखता रहता, दूर बैठी, तब तक वह मुझे देखती रहती। मेरा लिखना समाप्त होने पर रन्धन कार्य के लिए चली जाती। स्नान, पूजा के पश्चात् जब मैं लौटता, मुझे खिला पिलाकर अन्यान्य गृह कार्यों को समापन कर अपने घर चली जाती। सन्ध्या समय फिर इसी कार्य की पुनरावृत्ति होती और दूसरे दिन सुबह होते न होते ही देखता; वह उद्यान कार्य में जुटी हुई है। कभी जड़ की मिट्टी कुरेदती तो कभी भृंगार में जल लाकर मूल सिंचन करती और कभी पुष्प चयन करती। कई बार तो मैं भी उसका सहायक बनता। यदि वह फल तोड़ती तो मैं ऊँची डालियों को झुका देता, मिट्टी कुरेदती तो मैं जल सिंचन कर देता। जब वह पूजा के लिए कुछ पुष्प रखकर माला गूंथने बैठती तो मैं दूर बैठा उसका करांगुलिचालन देखता रहता। कितनी द्रुत थी उसकी वह गुंथन प्रक्रिया। सूची में सूत डालने की उसकी वह भंगिमा तो मैं आज भी नहीं भूल पाया हूँ। कितनी भली लगती थी उस समय जब कि दाँतों से सूत काटकर उसे पिरोने लगती।

उसका क्या नाम था यह मैं नहीं जानता था। कभी मैंने उससे पूछा भी नहीं। उद्यान का रक्षण करती थी अतः मैं उसे मालिनी कहकर ही पुकारता था। लगता कि उसे भी अपना यही नाम प्रिय था।

उस दिन जब उस संकेत का चिन्तन करते-करते घर लौटा, उसने देखते ही पूछा—"आज इतने विषण्ण और चिन्ताकुल क्यों हो?" बड़ी चतुर थी वह। मेरा चिन्ताक्लिष्ट मुख देखते ही सब कुछ भाँप गयी।

मैं विस्मित-सा उसकी ओर देखता ही रह गया। बोला—"तुम कैसे समझ गयी?"

वह हँस पड़ी। बोली—"यह सब मैं सहज ही समझती हूँ। यह बताओ हुआ क्या है?"

समस्त घटना विवृत की। बोला—"किन्तु उस संकेत का अर्थ नहीं समझ पाया, अतः वह चिन्तन करता-करता आ रहा हूँ।"

वह बोली—"इसके लिए इतनी चिन्ता? अरे इसका अर्थ तो दिवालोक की भाँति स्पष्ट है।"

बोला—"क्या कह रही हो?"

"ठीक कह रही हूँ कवि चूडामणि।"

उसके इस कवि चूडामणि सम्बोधन पर मैं खिलखिलाकर हँस पड़ा। बोला—"तब तो कौन कवि चूडामणि है अभी ज्ञात हो जाएगा। तुम पहले मुझे उस संकेत का अर्थ समझाओ।"

वह हँसती हुई कहने लगी—"अर्थ तो समझा दूँगी, किन्तु तुम मुझे पुरस्कार क्या दोगे?"

ऐसा कुछ कहना चाहा जिससे वह लज्जित होकर वहाँ से भाग छूटती—पर इससे मेरा कार्य सिद्ध नही होता। अतः बोला—"मैं ठहरा कवि। भला मैं तुम्हें क्या दे सकता हूँ? राजा भोज प्रदत्त यह कण्ठमाला अवश्य दे दूँगा।"

वह हँस पडी। बोली—"अच्छा वही देना। उसे मै अपने जुडे में लगाकर रखूँगी।" फिर कुछ रुककर बोली—"उसने जो केतकी पत्र दाँतों से काटकर तुम्हारे सम्मुख फेंका - उसका अर्थ है वह तुमसे प्रेम करती है।"

मैंने कहा—"यह तुमने कैसे समझा?"

वह फिर हँस पडी। तदुपरान्त कृत्रिम कोप प्रदर्शित करती हुई बोली—"कल ही तो तुमने एक श्लोक में यह भाव व्यक्त किया था।" मैंने उस श्लोक को स्मरण किया जिसमें नायक प्रबल अनुरागवश नायिका के ओष्ठों पर दन्तच्छेद चिह्न अंकित कर देता है। स्तब्ध-सा रह गया मैं उसके बुद्धि कौशल पर और सोचने लगा—मुझे यह बात क्यों नही याद आयी। यहाँ यह कहना उचित होगा कि मै जिन श्लोकों की रचना करता, सर्वप्रथम मालिनी को ही सुनाता। वस्तुतः वही मेरी प्रथम श्रोता और समालोचक थी। वह संस्कृत अच्छी तरह नही समझती थी, अतः उसे प्राकृत भाषा में अर्थ समझाना पडता।

मैंने कहा—"और जो उसने नदी प्रवाह की भाँति उत्तरीय आवर्त्तित किया, कृष्ण केश समूह दिखलाया, ओष्ठो पर तीन उँगलियाँ रखी, इन सबका क्या अर्थ हुआ?"

उसने कहा—"इनका अर्थ तो और भी सहज है। नदी प्रवाह की

भाँति उत्तरीय को आवर्त्तित करने का अर्थ है—नदी तीर। कृष्ण केश समूह दिखलाने का अर्थ है मध्य रात्रि और तीन उँगलियों का अर्थ है—आज से तीसरे दिन। सब मिलाकर अर्थ हुआ—आज से तीसरे दिन मध्य रात्रि के समय वह तुमसे यमुना के घाट पर मिलेगी।"

मैं विस्मय से अवाक् उसका मुख देखता रहा। बोला—"तुमने कैसे यह सब समझ लिया?"

वह मुस्कुराकर बोली—"विधाता ने यह शक्ति हम लोगों को दी है। इसी का नाम है स्त्रीवेद।" फिर कहने लगी—"पुरुषों की कला है चौसठ और औरतों की है अड़सठ।"

मैने कहा—"यह तो हुई एक कला। शेष तीन और कौन-सी हैं?"

वह मेरी बात का प्रत्युत्तर दिए बिना ही नुपूरों की छम्-छम् ध्वनि करती हुई जाने लगी। मैने पुकारकर कहा—"तुम अभी मत जाओ, कुछ और बाते करनी हैं तुमसे।"

वह लौट पड़ी। बोली—"कौन-सी?"

। कहा—"अधरों पर तीन उँगलियाँ रखने का अर्थ यह भी तो हो सकता है कि मै इस विषय में किसी से कुछ कहूँ नही।"

उसने हँसते हुए कहा—"नही। उसके लिए तो एक उँगली ही पर्याप्त थी।"

"अच्छा, तो अब यह बताओ कि मुझे क्या करना चाहिए।"

वह बोली—"यह सब मै क्या जानूँ?"

"तुम सब कुछ जानती हो। लगता है तुम तो कवियो की कवि हो, कवि चूड़ामणि हो।" फिर कुछ रुक कर बोला—"जब तुमने संकेत का अर्थ बताया है तो यह भी बताओ अब मेरा क्या कर्त्तव्य है?"

उसने एक क्षण कुछ सोचा। फिर बोली—"यदि तुम मेरी सम्मति चाहते हो तो मैं कहती हूँ तुम मत जाना।"

मैं समझ गया, यह तो स्त्रियोचित प्रत्युत्तर हुआ। अतः बोला—"ऐसा करना क्या उचित होगा? वह बेचारी न जाने कितनी मुसीबतों का बोझ उठाए मध्य रात्रि में नदी तट पर मेरी प्रतीक्षा करेगी और मैं वहाँ जाऊँ भी नहीं—कैसा-कैसा लग रहा है यह। तुम्हीं बताओ तब वह मेरे विषय में क्या सोचेगी?"

वह सहसा इसका कोई प्रत्युत्तर नहीं दे पायी। कुछ रुककर बोली—"तुमने उसे कहाँ और कब देखा था?"

"राज-प्रासाद से लौटते समय। राज-प्रासाद के पश्चिमी मुख्य द्वार से ठीक तीन सौध के उत्तर में।"

मालिनी बोली—"समझ गयी। वह सौध राजकन्या रूपश्री की है।"

"राजकन्या रूपश्री की?"

"हाँ महाशय। आप सिर्फ कविता ही लिखते हैं। संसार के विषय में कुछ नहीं जानते।"

स्वीकार करना पड़ा उसका यह कथन। किन्तु मैं स्वयं पर आश्चर्यचकित था कि इतने दिनों तक राजसभा में आना-जाना करते हुए भी यह नहीं जान पाया कि राजकन्या का महल कौन-सा है। लेकिन उस राजकन्या रूपश्री के संकेत स्थल पर जाने की मेरी इच्छा अब प्रबल होने लगी। अतः बोला—"नहीं जाना तो उचित नहीं होगा।"

मालिनी को भी इस पर सहमत होना पड़ा। बोली—"मुझे भी

ऐसा ही लग रहा है। पंचकुल के राजकुमार के साथ महाराज ने उसका विवाह स्थिर किया है। शीघ्र ही उसका विवाह भी होने वाला है।"

यह तो मैंने भी सुना था। किन्तु रूपश्री ने तो मेरे जीवन में एक जटिलता की सृष्टि कर दी।

मालिनी मेरे मुख की ओर देखकर न जाने क्या सोचती रही, फिर बोली—"बड़ा विपद् भरा है यह सब। फिर भी तुम्हें जाना होगा" कहती हुई लौटने का उपक्रम करने लगी।

तभी मैंने कहा—"तुम्हारा पुरस्कार तो लो।" फिर महाराजा भोज प्रदत्त गन्धराज की माला गले से उतार कर उसकी ओर फेंक दी। उसने भी उसे सहज ही झेल लिया। फिर मुझे झुककर प्रणाम कर उसे जुड़े में लपेटती हुई वहाँ से चली गयी।

देखते-देखते ही तीसरा दिन आ गया। ठीक समय पर मैं यमुना घाट पर उपस्थित हुआ। घाट के एक ओर एक तमाल वृक्ष था। उसी वृक्ष की वेदी पर जा बैठा। जहाँ मैं बैठा था उसके पार्श्व से होकर ही जाती थी नीचे उतरने की सीढ़ियाँ। सम्मुख थी यमुना की प्रवहमान निर्मल जल धारा। किन्तु कृष्ण पक्ष की काली रात्रि ने सब कुछ पर एक काला आवरण डाल रखा था। आकाश में अगणित नक्षत्र जल रहे थे, बुझ रहे थे। उनके साथ ही मेरे हृदय में भी भय, भावना, आशा, आनन्द और आशंका का विचित्र आलोडन-विलोडन चल रहा था। हठात् झरे हुए सूखे पत्तों पर खड़-खड़ की ध्वनि हुई। मैंने दृष्टि उठायी। देखा—किसी नारी की छाया उसी ओर अग्रसर होती आ

रही है। उसके निकट आते ही मैं उठकर खड़ा हो गया। फिर उसे सम्बोधन करता हुआ बोला—"क्या तुम ही राजकन्या रूपश्री हो ?"

उसने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। केवल मुख का अवगुण्ठन पूर्णतः हटा दिया। नक्षत्रों के नीलाभ आलोक में एक क्षण भी तो नही लगा उसे पहचानने में। कितना परिचित था वह मुख। जन्म-जन्मान्तरों से देखता आ रहा हूँ इस मुख को। जन्म-जन्म में कामना की थी इसे पाने की। किन्तु पा न सका। उसे नही पाने का भी आज कोई दुःख नहीं। क्योंकि आज मैं समझ गया हूँ, पाने में सच्चा आनन्द नही। पाने का समय सामान्य होता है, बहुत शीघ्र ही समाप्त हो जाता है वह।·· पर चाहना ऐसा नही होता। वह निरवधि काल तक रहता है। कारण वह मनोमय हो जाता है। मैं फिर बोला—"क्या तुम रूपा · रूपश्री हो ?"

इस बार वह बोली—"हाँ।"

मैंने उसे पैर से सिर तक देखा। वह राजकन्या के बहुमूल्य वस्त्रालकारों से विभूषित नही थी। वह थी एक सामान्य परिचारिका के वस्त्र परिधान में। लगा—बिना इस वेष के यह यहाँ आ नही सकती थी। परिचारिका समझकर ही द्वार रक्षक ने उसे छोड दिया था।

बोला—"तुमने मुझे इस नदी तट पर क्यो बुलाया था ?"

कुछ क्षण लग गया उसे संयत होने में। फिर धीरे-धीरे बोली—"कवि! मैं तुमसे प्रेम करती हूँ।"

मुहूर्त्त मात्र में मेरे हृदय और देह को आनन्द की एक अपूर्व लहर ने आप्लावित कर डाला। उस दिन देवदत्ता ने मुझसे प्रेम नहीं किया

था, अतः उसके मुख से यही सुनने के लिए तो मैने जन्म-जन्मान्तरो से गुजरते हुए महाराजा भोज के सभाकवि के रूप में जन्म-ग्रहण किया था। किन्तु क्या मै उस क्षण एक सामान्य वेतनभुक्त सभाकवि था? नही। मै था देवदत्ता के हृदय को जीतने वाला, राज-राजेश्वर। देवदत्ता के हृदय को जय करना, किसी चक्रवर्ती द्वारा इस भरत क्षेत्र के छः खण्डो पर आधिपत्य करने की अपेक्षा अंशमात्र भी कम नही था। वोला—"रूपश्री। लगता है जन्म-जन्म से मै भी केवल तुम्ही से प्रेम करता आ रहा हूँ।"

आनन्दातिरेक में रूपश्री की देहयष्टि थर-थर कॉपने लगी। मैने उसका हाथ पकडकर उसे पाषाण की उसी वेदी पर वैठाया।

रात कितनी वीत चुकी थी कुछ कह नही सकता। सहसा रूपश्री वोली—"कवि। शायद तुमने सुना होगा मेरे पिता ने पंचकूल के राजकुमार के साथ मेरा विवाह स्थिर किया है। किन्तु मै स्वयं को इसके पूर्व ही तुम्हें आत्मदान कर चुकी हूँ। इसीलिए तो मैंने उस दिन तुम्हें मेरे महल के नीचे से जाते देख केशपुंज फेंक कर तुम्हारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया था। सव कुछ मैने तुम्हे वता दिया है। अब मेरा जीवन-मरण तुम्हारे हाथो में है। तुम मेरी रक्षा करो।"

किस प्रकार उसकी रक्षा करूँ, मै इसी चिन्ता में निमग्न हो गया। यह तो निश्चित था कि याचना करने पर भी महाराजा रूपश्री का विवाह मुझसे नही करेंगे एव अन्य कोई उपाय दृष्टिगत ही नही हो रहा था। मै कोई क्षत्रिय राजा नही था कि युद्ध कर उसे वलपूर्वक छीन ले जाता। वच गया था मात्र अपहरण। सोचने लगा—कन्नौज से यदि

मै उसे अपहरण कर ले जाऊँ तो सहज ही पकडा जाऊँगा। उस स्थिति में उसकी रक्षा करना तो दूर ; स्वयं के जीवन को भी विपदग्रस्त वना डालूँगा। रूपश्री के विवाह का समय तो अभी दूर है। शायद मालिनी से परामर्श कर कुछ निश्चय कर सकूँ, अतः उससे कुछ समय माँगा। वोला—"तुम निश्चिन्त हो जाओ। मैं तुम्हारी रक्षा का कोई उपाय अवश्य करूँगा। कैसे करूँगा यह मैं तुम्हे तीन दिनों के भीतर ही सूचित कर दूँगा।"

प्रभात होने के पूर्व ही रूपश्री चली गयी। मैं भी अपने निवास स्थान पर लौट आया।

मालिनी से मैंने सब कुछ स्पष्टतया वताया। उसने भी वडे ध्यानपूर्वक सुना। किन्तु अपना अभिमत व्यक्त नही किया। केवल वोली—"अव तुम क्या करना चाहते हो?"

वोला—"उसकी रक्षा करना चाहता हूँ।" फिर कुछ रुककर वोला—"मालिनी! तुम्ही ने मुझे सकेत का अर्थ समझाया था, अव इस महान संकट से भी तुम्ही मेरा उद्धार करो।"

वह हँस पडी। वोली—"यह कार्य कन्नौज मे होना सम्भव नही, यह तो वही से हो सकता है जहाँ से तुम सहज ही रूपश्री को लेकर महाराजा भोज की राज्य सीमा को पार कर सको।"

मन ही मन मालिनी के बुद्धि कौशल की प्रशंसा किये वगैर रह न सका। भोज के राज्य की सीमा मैं पूर्व ही वता चुका हूँ। मैंने कहा—"किसी प्रकार नर्मदा नदी पार कर दक्षिण में जा सकने पर निरापद हो सकूँगा। किन्तु यह हो कैसे?"

मालिनी बोली—"हो सकता है। यदि रूपश्री त्रिवेणी स्नान के लिए प्रयाग जाये और वहाँ से तुम उसका अपहरण कर विन्ध्याटवी में प्रवेश कर जाओ तो महाराजा भोज की राज्य सीमा सहज ही अतिक्रम हो सकेगी।"

मालिनी का परामर्श मुझे उपयुक्त लगा। उसी के अनुसार परिकल्पना कर मैंने मालिनी के द्वारा ही रूपश्री को संवाद भेजा—आगामी दशहरे के समय तीर्थ-स्नान के लिए वह प्रयाग जाए। मैं भी उस समय वहाँ उपस्थित हो जाऊँगा और मध्य रात्रि में उसका अपहरण कर चरणाद्रि दुर्ग तक उसे नौका मे ले जाऊँगा। वहाँ से नदी अतिक्रम कर दूसरे तट से विन्ध्याटवी में प्रवेश करने की चेष्टा करूँगा।

इसी योजना के अनुसार सब कुछ निर्धारित हुआ। दशहरे की मध्य रात्रि में प्रयाग में मैं और रूपश्री एक नौका पर चढ़े। अनुकूल वायु व जलगंभीरता के कारण नौका द्रुतगति से चल रही थी। उस दिन न मेरी आँखों में नींद थी, न रूपश्री की। नदी के प्रवाह की ओर निहारते हुए हम चुपचाप बैठे थे। दूर-दूर तक प्रसारित बदरी वृक्षों के जंगल, वनपनसो की झाड़ियाँ और सीताफल की कृष्ण वनराजि आँखों से होकर गुजर रही थी। शुक्ल दशमी की चन्द्र ज्योत्सना सर्वत्र विस्तृत थी। रूपश्री क्या सोच रही थी नही कह सकता—किन्तु मेरा समस्त अन्तर उसी प्रकार उन्मत्त होकर नृत्य कर रहा था जिस प्रकार वर्षा के आगमन पर मयूर।

मैंने भविष्य की चिन्ता नही की थी। पुरुषों ने यह चिन्ता कब

की है ? किन्तु देखा—रूपश्री गोपन रूप में कुछ अलंकार लेकर आयी थी। उन अलंकारों के साथ ही थी तीर्थंकर के अपरूप एक चन्दन मूर्त्ति। रूपश्री बोली—"यह चन्दन मूर्त्ति मेरे पिता को मगध अवस्थान काल में कलिंगाधिपति से उपहार-स्वरूप मिली थी। मुझे यह मूर्त्ति अत्यन्त प्रिय है, अतः इसे साथ ले आयी।"

मैंने उस मूर्त्ति को हाथ में लेकर देखा। मुझे भी वह अत्यन्त प्रिय लगी। देखकर पुनः उसे रूपश्री के हाथों में ही पकड़ा दी।

चरणाद्रि दुर्ग पहुँचने के पूर्व ही प्रभात हुआ। प्राची के दिग्मण्डल को आरक्तिम करता हुआ सूर्य उदित हुआ। वह रक्तिम आभा जल पर, थल पर सर्वत्र बिखर पड़ी। तट की वनराजि स्पष्ट रूप धारण करने लगी। मैंने रूपश्री के मुख की ओर देखा। उसकी दोनों आँखें विषण्ण-सी लगी। उसे इस प्रकार उदास देख कर मेरा भी मन खिन्न हो उठा। सोचने लगा—उसे राजकीय जीवन के परित्याग का दुःख है या भावी जीवन की आशंका। वह थी राज-कन्या और मैं था एक सामान्य कवि। फिर भी मैं उसके लिए क्या नहीं कर सकता था ? अतः उसे आश्वस्त करता हुआ कहने लगा—"रूपश्री! तुम मन से अशुभ चिन्तन को दूर कर मुझ पर विश्वास करो। मैं तुम्हें निरापद स्थान पर ले जाऊँगा।"

मेरा कथन समाप्त भी नहीं हो पाया कि तट से किसी का आदेश आया—"नौका रोक ली गई है। किनारे लगाओ।"

अब माझी के लिए नौका को किनारे ले जाने के अतिरिक्त दूसरी कोई राह नहीं थी। कारण वे निर्देश देकर ही नहीं रुके। महाराजा भोज के उन आरक्षकों ने देखते-देखते ही नौका को घेर लिया और

रूपश्री को उतारकर स्थल पथ से शिविका द्वारा द्रुतगति से प्रयागाभिमुख हो गए। मैं वन्दी बनाकर दुर्ग मे डाल दिया गया।

कारागार में निक्षिप्त होने का मुझे कोई दुःख नहीं था। दुःख तो यह था कि मैंने रूपश्री को मुझ पर विश्वास करने को कहा था, किन्तु उस विश्वास का मूल्य न चुका सका। कहाँ कर पाया उसकी रक्षा, कहाँ ले जा सका उसे निरापद स्थान में। शायद वह पञ्चकूल के राज-प्रासाद में राजमहिषी होकर न जाने किस मनोवेदना में जीवन व्यतीत कर रही होगी। धिक्कार है मुझे, शत्-शत् धिक्कार।

मेरे पलायन का सवाद राजा भोज के प्रहरीगण कैसे पा सके; यह उन दिनों नही जान पाया था। किन्तु आज जानता हूँ। हमारी नौका छूटने के पश्चात् मालिनी बहुत देर तक तट पर बैठी रोती रही। फिर उस ने यह सवाद महाराजा भोज को दे दी। महाराजा भोज भी रूपश्री के साथ संगम पर स्नान करने आए थे।

रोचना मद्र ने ही तो मालिनी के रूप में जन्म ग्रहण किया था।

नवम् उच्छ्वास

पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र पर्यन्त विस्तृत विन्ध्याटवी के आकर्षण को मैं अपने जीवन से कभी पृथक नहीं कर सका। तभी तो मैं बार-बार इसके अरण्य अचलों में घूमता रहा हूँ। वे सभी वृक्ष मुझे अपने सहोदर की भाँति ही प्रतीत होते जो कि वन्य हस्ती के मदजल से सिक्त होकर वर्द्धित हुए और जिनके शिरोस्थित श्वेत कुसुम अपनी उच्च अवस्थिति के कारण आकाश नक्षत्र की भाँति ही सुशोभित होते थे। शैशव में ही मैं इस विशाल विन्ध्य अटवी के एकांश का आस्वादन कर चुका था। मेरे माता-पिता का देहान्त तभी हो गया था जबकि मैं मात्र शिशु था। अतः मेरा लालन-पालन विन्ध्याटवी के प्रत्यन्त स्थित भद्रावती में मामा के घर हुआ था। मुझे शैशव की बातें याद हैं। हमारे घर से ही चरणाद्रि दुर्ग दिखलायी पड़ता। विन्ध्याटवी संलग्न गंगा इस दुर्ग को तीन ओर से वेष्टित किए प्रवाहित होती रहती। उस दुर्ग की ओर देखते-देखते मैं जैसे भय विह्वल हो उठता। नदी तीर स्थित सुदूर प्रसारित बदरी वृक्षों के जंगल, वनपनस के झाड़, सीताफलों की वनराजि मेरे हृदय को एक अभूतपूर्व मुक्ति के आस्वाद से आपूरित कर देती। उन दिनों नहीं जानता था कि इसी चरणाद्रि दुर्ग के वन्दीगृह में मेरा शेष जीवन व्यतीत हुआ था एवं इसी वन्दीगृह के अन्तराल में काव्य-रचना कर विरही यक्ष की भाँति मैं भी पंचकूल

की राजमहिषी के निकट अपने मनोरथ रूपी मेघ को प्रेरित करता था। किन्तु उस मेघ को पथ निर्देश नही करना पड़ता। वह तो चरणाद्रि दुर्ग के वन्दीगृह से पचकूल राजान्तःपुर के उस वातायन पर सहज ही उपस्थित हो जाता जिसके कक्ष में मेरी ही तरह वन्दिनी रूपश्री रहती थी। सचमुच रूपश्री ही तो थी वह। कनकवर्णा देह, तुषारावृत्त कैलाश के शिखर तुल्य शुभ्रोज्ज्वल दन्त पंक्ति, पके हुए विम्बफल की भाँति अधरोष्ठ, चकित हिरणी-सा दृष्टिपात, क्षीण कटि गंभीर नाभि, गुरु नितम्ब भार से मन्थर थी जिसकी गति, स्तन भार से आनमिता वह जैसे विधाता की प्रथम सृष्टि-सी समस्त शोभा और सौन्दर्य का आधार थी। कभी-कभी कल्पना करता—जैसे वह मेरे विरह में मलीन है, तेल विना उसका केश-पाश रूक्ष है, पुष्प रहित है, सर्वप्रकार की विलासिता का उसने त्याग कर दिया है। मधु पान नही करने के कारण उसके इन्दीवर आयत नेत्रो में वह मधुर कटाक्ष नही दिखते। न वह कटि-देश पर मोहन मुक्ता माला पहनती है, न कण्ठप्रदेश मे हीरक हार। वस निःसंग चक्रवाकी की भाँति एकाकी मूर्च्छाहत-सी शय्या पर पडी वह ऐसी लगती है जैसे पूर्व गगन स्थित कलामात्र शेष क्षीण चन्द्रमा। स्वप्न मे मुझे प्राप्त करने की आशा से वह निद्रादेवी की आराधना करती है पर सब कुछ वृथा। रो-रोकर फूल उठी है उसकी आँखें। उच्छ्वसित अश्रुजल जैसे प्रवोध मान ही नही रहे है। नियत ऊष्ण दीर्घ श्वाँसो में जलकर विवर्ण हो गए हैं उसके अधर एवं सतत हास्यमय प्रफुल्ल मुख निष्प्रभ हो गया है अपराह्न की कमलिनी-सा।

कभी-कभी तो जैसे प्रत्यक्ष-सा लगता वह मेरे विरहशीर्ण रूप की कल्पना कर मेरा चित्र अंकित कर रही है। उसका उत्तरीय विस्रस्त-सा

एक ओर गिर पडा है। कचुक बन्ध शिथिल हो गए है—नेत्र कोरक है अचचल और चिन्तामग्न। चित्र को परिष्कृत करती हुई उसकी अगुलियाँ चतुर्दिक घूम रही है। अँगुलियो पर लगा मनःशिला ओर राजावर्त का रंग असावधानी वश उसके प्रवाल मणिवत रक्तिम ओष्ठो पर लगा हुआ है।

कभी सोचता—वह मलीनवसना पिंजरे की सारिका से मेरे विषय में कुछ पूछ रही है। कभी जैसे मेरे नाम पर गीत रचना कर वीणा पर उन्हें गाने की चेष्टा कर रही है पर गा नही पाती। वेदना के आवेग में बार-बार रूद्ध हो जाता है उसका कण्ठ-स्वर। नेत्रो के जल में भीग-भीग जाते हैं वीणा के तार। वस्तुतः रूपश्री की पीडा में ही तो मैं भूल सका था कारावास की वह समस्त यन्त्रणा। क्योंकि उन दिनो रूपश्री ही तो छायी हुई थी मेरे अन्तर और बाह्य जगत पर।

किन्तु मामा के घर भी मै अधिक दिन नही रह सका। ऐसा नही था कि मामा-मामी का मुझ पर स्नेह नही था पर मामा की लडकी तपती मुझे नही देख सकती थी। वह अक्सर मेरे पितृ-मातृहीनत्व को लेकर मुझपर व्यंग्य कसती जो कि मेरे कोमल हृदय को तीर की भाँति बीध देता। यह सत्य था कि मै असहाय था, किन्तु मुझे उसका कोई दुःख नहीं था। दुःख तो यही था कि शैशव से ही मातृ-स्नेह से वंचित मेरा हृदय प्रत्येक नारी से उसी मातृ-स्नेह की प्रत्याशा रखता। यदि मिल जाता तो आनन्दित हो जाता और नही मिलता तो दुःखित। तपती से भी मैंने उसी स्नेह की आशा की थी लेकिन वह उसे समझ नही पाती। वह मुझसे स्नेह तो करती ही नही थी लगता घृणा ही करती थी।

क्यों करती थी इसका उत्तर मैं आज दे सकता हूँ। वह थी वही रोचना मद्र, मेरे पूर्व जन्म की मालिनी। पर उन दिनों कहाँ ज्ञात था यह सब।

तदुपरान्त, बहुत दिन बाद की बात है। मैं वन-देवताओं के आवास स्थान, उन्मद मयूरों की विलास स्थली विन्ध्याटवी में घूमता-घूमता एक सरोवर के तट पर आ खड़ा हुआ। उस समय चैत्र मास था। सरोवर में नवीन कमल खिले थे। सहकार मंजरी उत्सुक चित्त को और उत्सुक बना रही थी। बकुल वृक्ष पर फूल फूटने लगे थे। कालेयक कुसुमों के समूह पर मधुकरों की कालिमा बिछी थी। अविरल झरती हुई कुसुम रेणु की धवलता से धरती आच्छन्न हो रही थी। उत्फुल्ल आम्र-मंजरियों पर लीन कोकिला अपनी काकली से प्रेमिक हृदयों को स्पन्दित कर रही थी। उस सरोवर को देखकर न जाने क्यों मुझे अच्छोद सरोवर की स्मृति हो आयी। मैं उसी सरोवर में उतर कर स्नान और मृणाल भक्षण कर सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे बैठा वहाँ की सुषमा निहार रहा था। जहाँ मैं बैठा था उसके समीप ही राशि-राशि जीर्ण पत्र और पुष्प बिखरे पड़े थे। भ्रमर भार से उत्पतित पुष्पों के पराग ने उस स्थान को सोनाली शोभा प्रदान कर रखी थी। उधर देखते-देखते लगा—मैं कल्पना के साम्राज्य में डूबा जा रहा हूँ। मन में हुआ, वीणा की मधुर ध्वनि के साथ महाश्वेता के कण्ठ-निःसृत गीत ध्वनि जैसे अभी-अभी यहाँ बज उठेगी। मैं उद्ग्रीव-सा उसकी प्रतीक्षा करने लगा। तभी शुष्क पत्रों पर किसी की पद-ध्वनि सुनायी पड़ी। मैंने पीछे देखा। देखा—एक नवीन ग्राम-वधू स्नान के लिए उसी ओर आ रही थी। प्रथम तो मुझे वह साक्षात् वन-लक्ष्मी ही लगी। मैंने

अनेक रूपसियों को देखा है किन्तु उसके रूप में तेजस्विता के साथ जो कमनीयता मिश्रित थी उन्हे एक साथ समन्वित रूप में और कही नही देखा। वह प्रदीप के आलोक की भाँति पिंगल वर्ण की घन तरल देह प्रभा से समस्त वन को पिंगल वर्णीय छटा में उद्भासित करती मेरी ओर ही अग्रसर हो रही थी। उसके विशाल नेत्रो को देखकर लगा जैसे समस्त हरिणो ने मिलकर उसे अपने नेत्रो की शोभा दे डाली है। उसके चतुर्दिक श्रावस्ती रजनी की भाँति निविड आजानुविलम्वित केशराशि इस तरह लहरा रही थी कि वह सौदामिनी स्थित चंचल विद्युत पुंज की प्रतीति दे रही थी। उसे देखकर मैं विस्मित-सा हो गया। वहाँ उसका आविर्भाव अप्रत्याशित था शायद इसीलिए विस्मय की चमक और वर्द्धित हो उठी थी। मैं वहाँ वैठा-वैठा उसे ही अपलक देखने लगा। उठकर खडे होने की वात ही भूल गया। वस चित्र लिखित-सा, प्रस्तर उत्कीर्ण-सा, प्राणहीन-सा, योग समाधि स्थित-सा निश्चल होकर वही वैठा रह गया। उस समय मुझे समस्त पृथ्वी पुष्पो से पुष्पमय, मधुकरों से भ्रमरमय, कोकिलो से कोकिलमय और मयूरो से मयूरमय लग रही थी। जिस प्रकार मैं उसे देखकर विस्मित था वह भी मुझे देखकर उसी प्रकार विस्मित थी।

पर मुझे देखकर वह क्या सोच रही थी यह नही कह सकता। फिर भी उसकी स्थिति मेरी ही तरह स्तम्भिता, चित्र लिखिता, उत्कीर्णा, सयता और मूर्च्छिता-सी हो रही थी। शायद मेरी ही भाँति एक जडता ने उसके समस्त देहावयवो को निष्क्रिय, इन्द्रियो को अवरुद्ध, नेत्र कोरको को अचचल एव मन को अपूर्व मधुर रस में डूबा डाला था।

उसके पीछे ही एक वृद्धा भी धीर मन्थर गति से आ रही थी। पर मै जैसे उसे देख ही नही पाया था। उस पर मेरा ध्यान तव गया जव कि वह उस तरुणी के समीप आ खडी हुई और पूछने लगी—"क्यो री! यहाँ क्यो खडी है ?"

उस तरुणी ने मेरी ओर इंगित करते हुए धीरे-से उसे कुछ कहा। सुनते ही देखा—वह मेरी ओर तत्परता से अग्रसर होने लगी।

समीप आकर तो वह अपलक-सी कई क्षणो तक मुझे देखती रही। फिर उसकी ओर मुडकर अस्फुट-सी आवाज में बोली—"तेरा तेरा अनुमान विल्कुल ठीक है।"

फिर मै कुछ वोलूँ या सोचूँ उसके पूर्व ही वह वृद्धा "मेरे लाल, मेरे धन, मेरी आँखो के तारे" कहती-कहती अर्द्ध मूर्च्छित-सी मेरे सम्मुख ही गिर पडी।

प्रथम तो मै किंकर्त्तव्य विमूढ-सा हो गया, पर दूसरे ही क्षण सयत होकर उसे उठाने की चेष्टा करने लगा। किन्तु जब उठा न पाया तो उसका सिर गोद में रखकर सहलाते हुए वार-वार कहने लगा—"आप होश में आइए। हो क्या गया है आपको ? वताइए न क्या करूँ ?"

उसने अश्रुभरे नेत्रो से मेरी ओर देखा। वोली—"तू ठीक ही कह रहा है वेटा! करना तो तुझे ही होगा, तू ही कर सकता है पर पर पहले यह तो वता, तू इतना निष्ठुर कैसे हो गया ? कैसा है यह तेरा धर्म ? मै उधर रो-रोकर मरूँ और तू धर्म करे। देख, इसकी ओर देख - यही है वह तेरी विवाहिता स्त्री—जिसका तूने प्रथम रात्रि में ही त्याग कर दिया था। आखिर उस स्वर्ग में ऐसी कौन-सी

अप्सरा मिलेगी जिसके लिए तूने ऐसी मणि काचन-सी प्रतिमा का मुख तक नही देखा ?"

मै तो ऐसा हतबुद्धि हो गया कि कुछ सोच ही नही पाया उसे क्या प्रत्युत्तर दूँ। उस तरुणी की ओर देखा। देखा—उसका मुख सलज्ज और आरक्तिम हो उठा है। मेरा हृदय भी जैसे उसकी ओर दौडा जा रहा था। फिर भी स्वय को सवरण कर गभीर स्वर में बोला—"आर्ये, आप कहीं कुछ भूल रही है। मै आपका पुत्र नही हूँ।"

"क्या कहा! तू मेरा पुत्र नही है ? अरे मूढ, लगता है पाखण्ड है तेरा धर्माचरण, जो कि अपनी माँ को पहचानने में भी लज्जा का अनुभव कर रहा है। धिक्कार हे तुझे, सौ बार धिक्कार।"

"क्या उत्तर देता मै ? बस चुपचाप सिर नीचा किए बैठा रहा। वह फिर बोली—"अरी ओ अभागिन। तू वहाँ खडी क्या देख रही है ? यही है तेरा स्वामी, तेरा देवता। तू इसी की शरण ले।"

उसे इतस्ततः करते देखकर पुनः चीत्कार उठी—"अरी ओ भाग्यहीना। मर क्यो नही गयी थी तू ? कैसे मरा जाता है वह तो मै आज तुम्हें मर कर दिखाऊँगी। इसी ने तेरा पाणिग्रहण किया था यही तेरा भरण-पोषण करेगा। मै बहुत रो चुकी हूँ, अब और नही रोऊँगी। बस, मै चली" कहती हुई वह जोर-जोर से अपनी छाती पीटने लगी।

मैने उसे रोकने की बहुत चेष्टा की पर रोक न सका। न जाने वृद्धा के उन शिथिल हाथो में इतनी शक्ति कहाँ छिपी थी। एक हाथ पकड पाता कि दूसरा वह छुडवा लेती। वह तरुणी भी उस वृद्धा के पैरों को कसकर पकडे रो रही थी। उसके बडे-बडे नैन रूपी सीप से

मोतियों की धारा की भाँति अश्रु-बिन्दु झर रहे हैं ; और मेरा हृदय विगलित हुआ जा रहा था उन अश्रु-बिन्दुओं में ।

मुझे कभी यह अहंकार था कि मैं सत्यवादी हूँ, किन्तु सत्य क्या है वह नहीं जानता था । आज मैं जिस परिस्थिति के सम्मुख आ खड़ा था उसके पूर्व सत्य जान पाने का अवसर ही कहाँ पाया था । जानता हूँ लोग मुझे छीः छीः करेंगे । कहेंगे—कामना के वशवर्ती होकर सत्य त्याग कर मैंने असत्य का आश्रय लिया । किन्तु ईश्वर जानता है मैंने कामना के वशीभूत होकर उस दिन झूठ का आश्रय नहीं लिया था । आज मैं सत्य का स्वरूप समझ रहा हूँ । अतः कह सकता हूँ सत्य देश-काल निरपेक्ष नहीं है । फिर उस दिन मेरे समस्त सत्व को मथित कर जो कुछ मेरे मुख से निकल पड़ा था वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता । आज यह भी समझ गया हूँ सत्य का अभिमान भी अभिमान है । उस अभिमान का भी परित्याग करना होता है ।

वृद्धा तब भी वक्षदेश पर कराघात कर रही थी । मैंने धीरे-से कहा—"माँ ! तुम जो कुछ कहोगी मैं वही करूँगा । तुम शान्त हो जाओ ।"

मुहूर्त्त मात्र में ही इसका परिणाम मिला । उसने छाती पीटना बन्द किया । उसकी दोनों आँखों से आनन्दाश्रु बह चले । अस्फुट स्वर में कुछ कहना चाहा पर बोल न सकी । मैं उसके कानों के पास मुँह ले जाकर "माँ-माँ" पुकारने लगा । मेरे मुख से 'माँ' शब्द सुनकर उसे अपूर्व सुखानुभूति हुई । उसने नेत्रों को उन्मीलित कर पुनः निमीलित कर लिया ।

यह तो नही जानता था कि इस जीवन में नही तो अन्य किसी जीवन में वह मेरी माँ थी या नही किन्तु उसने मेरे मातृ स्नेह से वंचित शुष्क हृदय को अभिसिंचित कर दिया था। उस स्नेह से प्रेरित होकर मै भी "माँ-माँ" कहता हुआ एक अनिर्वचनीय आनन्द में डूबा जा रहा था। तभी मेरी दृष्टि उस तरुणी पर पडी। उसके मुख पर जो लालिमा थी वह जाह्नवी धारा में प्रतिफलित रक्तोत्पल की भाँति, सूक्ष्म वस्त्रों के भीतर से परिदृश्यमान दीप शिखा एवं शरत के मेघों से आवृत प्रभात सूर्य से भी अधिक रमणीय लग रही थी। मुझसे आँखें मिलते ही उसने दृष्टि नीचे कर ली। मैंने उससे कहा—"शुभे! तुम सरोवर से जल लाकर इनका हाथ-मुँह धुलवाओ।"

मेरा आदेश पाते ही वह विना कुछ प्रत्युत्तर दिए जल लाने चली गयी। ऐसा लगा—मैंने उसे कार्य सौंपा इससे वह जैसे कृत्य-कृत्य हो गयी।

शीघ्र ही वह घडे में जल लेकर लौट आयी। मैंने जल लेकर उस वृद्धा का मुख पोंछा फिर उसे उसके पाँवो को सहलाने को कहा। वह भी चुपचाप उसके पैरों को सहलाने लगी। कुछ देर पश्चात् उसने आँखें खोली। मै कहने ही जा रहा था "माँ अब तुम " कि उसने मुझे मध्य मे ही रोक दिया। फिर क्षीण स्वर में बोली—"बस तू मुझे केवल माँ कह कर पुकार और कुछ नही। अब मेरा समय समाप्त हो रहा है। मै तेरी गोद में ही चिर निद्रित होना चाहती हूँ। तू सरमा को सभालना।"

समझा तरुणी का नाम सरमा है। सचमुच ही उसका समय समाप्त हो रहा था। कारण उसने उसी स्थान पर उसी रूप में मेरी गोद मे

सिर रखे अन्तिम श्वाँस का परित्याग किया। सरमा चिल्लाकर रो पडी।

मै विधाता के निर्बन्ध का चिन्तन कर रहा था। क्या सचमुच ही वृद्धा के पुत्र से मेरी मुखाकृति का सादृश्य था या अपना अन्तिम समय निकट समझ मुझे पुत्र बनाकर सरमा को वह मेरे हाथों में सौंप गयी? घटनाक्रम की आकस्मिकता में मै विमूढ हो चला था। किन्तु आज सोच रहा हूँ—ससार में आकस्मिक कुछ नही होता। एक दिन जिस माँ का हाथ झटक कर मै चला गया था उसी माता ने मेरी गोद में अपना अन्तिम श्वाँस लिया था। रूपश्री पंचकूल के राजकुमार से प्रेम न कर सकी। इसीलिए विवाह कीप्र थम रात्रि मे ही सरमा के पति ने उसका परित्याग कर दिया। किन्तु वृद्धा के अग्नि-संस्कार के पूर्व सरमा के साथ वार्तालाप करने का अवसर ही नही पा सका। मै वन से काष्ठ लाया और चकमक पत्थर की सहायता से अग्नि प्रज्ज्वलित कर उसका शेष कृत्य सम्पन्न किया।

उस समय सूर्यास्त होने में विलम्व था। सरमा को लेकर रात कहाँ विताऊँ यही सोच रहा था। मुझे स्वयं के लिए कोई चिन्ता नही थी किन्तु सरमा के लिए चिन्तित था। मै उसे अपना अनुसरण करने को कहकर आश्रय के अनुसन्धान में चला।

सरोवर के एक प्रान्त पर एक क्षुद्र आम्र-कानन था। अवश्य ही सन्निकट कहीं जन वस्ती होगी सोचकर उसी ओर अग्रसर हुआ। कुछ दूर गया ही था कि एक पर्ण कुटी दिखाई पडी। किन्तु अपरिचित स्थान में रात्रि व्यतीत करने को सरमा प्रस्तुत नही थी। अतः वाध्य होकर पुन. सरोवर तट पर लौट आया।

सरोवर पर एक प्रच्छन्न स्थान ढूँढकर सरमा ने अपनी शय्या रचना की। फिर मेरी ओर मुडकर बोली—"आर्य। आप कहाँ शयन करेंगे?"

"मै भी यहीं कहीं सो जाऊँगा"—कहते हुए मैंने अपना झोला वही उतार कर रख दिया।

सन्ध्या का अन्धकार धीरे-धीरे बढ रहा था। सूर्य तो अस्त हो गया था किन्तु चन्द्र उदित नहीं हुआ था। चैत्रमास की दक्षिण वायु मलय गिरि का चन्दन सौरभ लिए प्रवाहित हो रही थी। दादुर एवं उन्मत्त कोकिल के कलकण्ठ के सिवाय और कोई शब्द सुनायी नही पड रहा था। कुछ समय बातचीत में व्यतीत करने के उद्देश्य से मैंने प्रश्न किया—"शुभे! तुम्हारा निवास स्थान कहाँ है?"

सरमा ने आँखें खोले बिना ही प्रत्युत्तर दिया—"गुर्जर देश के कल्याण कटक नगर में।"

फिर पूछा—"इस विन्ध्याटवी से तुमलोग कहाँ जा रही थी?"

सरमा कुछ अन्यमनस्क-सी हो उठी। उसके मुख पर एक कातर भाव छा गया। पर कुछ बोल न सकी। उसका कण्ठ अवरुद्ध हुआ जा रहा था।

उसे इस स्थिति में देखकर मैंने सान्त्वना भरे स्वर में कहा—"यदि तुम्हें बताने में कोई कष्ट हो रहा है तो रहने दो।"

किन्तु सरमा ने स्वयं को संयत कर लिया था। बोली—"नहीं आर्य। आपको तो मुझे अपना समस्त वृत्तान्त बताना ही होगा।" फिर कुछ क्षण रुककर बोली—"आपने तो सुना ही है कि विवाह-रात्रि में ही मेरे पति संन्यास ग्रहण कर न जाने कहाँ चले गए। तब मेरी उम्र

अति सामान्य थी। मेरे पितृ कुल या श्वसुर कुल में अन्य कोई नहीं था। इसीलिए मैं अपनी सास के साथ ही रह रही थी। ··पर मैं हूँ भाग्य-हीना " आगे वह कुछ बोल न सकी। उसका कण्ठ-स्वर भग हुआ जा रहा था।

मैंने कहा—"शुभे! उसके बाद की घटना का अनुमान मैं स्वयं कर सकता हूँ, किन्तु कौन कहता है तुम भाग्यहीना हो? तुम्हारे सौभाग्य का तो अन्त नहीं है।"

आँसुओं के मध्य भी वह हँसने लगी। बोली—"हाँ आर्य! एक भविष्यवक्ता ने भी ऐसा ही कहा था।"

मैंने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। लगा—एक मधुर आवेश को समाप्त करने के लिए ही जैसे मैं बोल उठा—"इसीलिए तुम अपने निरुदिष्ट पति के सन्धान में निकली थी?"

"हाँ आर्य। साधु-संन्यासी साधारणतः नर्मदा की परिक्रमा किया करते हैं। इसीलिए उन्हे विन्ध्याटवी में प्रवेश करना पडता है।"

मैंने कोई प्रत्युत्तर नही दिया।

पथश्रम एवं अन्यान्य कारणों से सरमा क्लान्त थी अतः सहज ही गहरी नीद में सो गयी। किन्तु उसे इस निर्जन वनभूमि में सरोवर तट पर इस प्रकार निश्चिन्त सोया देखकर मुझे जरा भी नीद नही आयी। मै लेटा-लेटा अपने अतीत और भविष्य का चिन्तन करने लगा। इन्ही के मध्य सरमा की चिन्ता भी आ खडी हुई।

आकाश में चन्द्रदेव उदित हो गए थे। उनकी स्वच्छ ज्योत्सना सर्वत्र व्याप्त थी। उसी कौमुदीधारा में स्नात लता गुल्म एवं वृक्षों ने एक अपार्थिव रूप ग्रहण कर लिया था। ज्योत्सना के उस शुभ्र

आलोक मे सरोवर का जल और अधिक स्वच्छ प्रतीत हो रहा था। मै जहाॅ लेटा था वहीं से इस ओर देखता रहा। उस समय पद्म मधु का पान किए मस्त कल-हॅसिनियो का कोलाहल सरोवर जल को उद्वीजित नहीं कर रहा था मात्र मन्द समीर उसे जितना उद्वेलित कर पा रहा था उतना ही तरंगित था। उसी ओर से एक मृदुमन्द सुगन्ध प्रवाहित होकर आ रही थी। लगा—स्नानोद्यत वनदेवियो के केशलग्न पुष्पों का सौरभ ही उस वायु को सुरभित किए था। मेरी दृष्टि सरमा पर जा पडी। देखा—उसका मुख आकाश के मेघमुक्त चैत्र रजनी के चन्द्र की भाँति ही प्रसन्न और मनोहर था। उसके प्रसुप्त मुख को देखते-देखते मेरा हृदय एक आनन्द भरी वेदना से भर उठा। सहसा मुझे एक और रात की बात स्मरण हो आयी। नर्मदा परिक्रमा के समय उस दिन भी रात्रि के समय मै एक शिलाखण्ड पर बैठा निकटस्थ अनाम वल्लरी की ओर देख रहा था। उसके एक वृन्त पर एक कलिका लगी थी। देखा—मदिरा की भाँति अविरल प्रवाही ज्योत्सनालोक में वह कलिका प्रस्फुटित होने लगी। उस कलिका की पखुडियाँ जैसे-जैसे खुलने लगी मेरे हृदय की शत-शत पखुडियाँ भी उसी प्रकार खुलने लगी। प्रस्फुटित होते समय वह वल्लरी आनन्द वेदना में जिस प्रकार थर-थर काँप रही थी उसी वेदना में मेरी देहयष्टि भी थर-थर काँप रही थी। आनन्द का वह अनुरणन केवल मेरे हृदय को ही नहीं विश्व हृदय को कम्पित कर रहा था। उसी आनन्द वेदना के अनुरणन में आज भी मेरी देह, मेरा मन कम्पित हो रहा है। वह कम्पन मेरे पदतल के तृणाङ्कुरों से लेकर नक्षत्रो के नीलाभ आलोक तक प्रसारित हो गया था। एक महासौन्दर्य के द्वार प्रान्त पर खडा दूर-श्रुत संगीत

की भाँति मेरी देह के समस्त परमाणु उस महा सौन्दर्य का आस्वादन करने लगे। देखा—उसी महा सौन्दर्य में एकाकार होकर सरमा न जाने कहाँ खो गयी। मैं तद्गत तन्मय हो उठा था। जब सम्वीति लौटी तो देखा—ऊषा देवी ने वृहत् सन्मार्जिनी लेकर आकाश-स्थल को परिष्कृत कर दिया है। पूर्वी आकाश धीरे-धीरे लोहित होता जा रहा था।

सरमा उठकर बैठ गयी थी। बोली—"आर्य! आप क्या सोए नहीं?"

सक्षेप में कहा—"नही।"

"आप जरा अपेक्षा करें"—कहती हुई वह अपने वस्त्रादि लेकर सरोवर की ओर चली गयी।

सरमा जब स्नान कर लौटी तो उसकी आर्द्र केश-राशि से आच्छन्न मुख ऐसा सुन्दर लगा जैसे प्रभात कालीन चन्द्र मण्डल के पीछे सजल जलधार हो। शुभ्र परिधान में वेष्टित उसकी तन्वंगी देहलता प्रफुल्ल कामिनी गुल्म की भाँति ही अभिराम लग रही थी। वह बिना कुछ कहे मेरे निकट आकर प्रणाम करती हुई बोली—"जाओ, तुम भी स्नान कर आओ।"

सोचता-सोचता मै भी सरोवर की ओर चला। कुछ पूर्व ही जो सरमा मुझे आर्य कहकर सम्बोधित कर रही थी वह सरोवर से लौटते ही 'तुम' सम्बोधन क्यों कर बैठी? तो क्या कल मैंने उस वृद्धा को जो कुछ कहा उसे सत्य समझकर उसने विश्वास कर लिया? ये चिन्ताएँ मेरे मस्तिष्क मे घुलने लगी। मैं झटपट स्नान कर लौट आया।

देखा—सरमा यात्रा के लिए प्रस्तुत है। मै उसके निकट जाकर वोला—"सरमा! तुमसे कही कुछ भूल हुई है। तुम्हारी सास माँ को कल मैने चाहे कुछ भी कहा हो, किन्तु वास्तव में मै उनका पुत्र नही हूँ। अत्यन्त शैशव में ही मातृ-पितृ विहीन हो जाने के कारण मेरा लालन-पालन मामा के घर हुआ था। तदुपरान्त, प्रव्रज्या ग्रहण कर देश-देश में पर्यटन करता आ रहा हूँ।"

कोई प्रत्युत्तर नही दिया उसने। जिस प्रकार चुप वैठी थी वैसे ही वैठी रही।

वोला—"सरमा! अव तुम क्या करोगी?"

सरमा आँखें उठाकर मेरी ओर देखने लगी। अश्रुवाष्प से भर उठे थे उसके नेत्र। वोली—"जैसा तुम्हारा आदेश होगा।"

मै सहसा कुछ प्रत्युत्तर नही दे पाया। मेरी दृष्टि सरोवर की सीमा अतिक्रम कर आम्रवीथिका से गुजरती हुई किसी निरुद्देश्य दिशा की ओर प्रसारित हो गयी। मैं सोच रहा था, क्या सोच रहा था इसका तो वोध ही नही था। आँखें फिराते ही देखा—सरमा निर्निमेष दृष्टि से मेरी ओर ही देख रही थी। उसकी वह दृष्टि मेरे मन को भी कैसे तो दुर्वल वनाने लगी। समस्त भावनाएँ जैसे अ-वश हुई जा रही थी। पर दूसरे ही क्षण मैने स्वयं को संयत कर लिया। वोला—"सरमा! तव चलो, हम विमल गिरि चलें। वही देवाधिदेव आदिनाथ ऋषभ की आराधना में जीवन को उत्सर्ग कर दें।"

सरमा ने कोई उत्तर नही दिया। चुपचाप अपने वस्त्रों में से एक सुन्दर चन्दन मूर्त्ति निकालकर मुझे देने लगी। वोली—"यह मूर्त्ति

भृगुकच्छ के एक विक्रेता से मैंने क्रय की थी। देखो कितनी मनोहर है यह।"

मैंने भी चुपचाप वह मूर्त्ति हाथों में पकड ली। उद्दीप्त दीपशिखा जिस प्रकार अन्धकार को निमिष मात्र में ही दूर कर देती है उसी प्रकार उस चन्दन मूर्त्ति ने भी मेरे मन के समस्त संशयों एवं जिज्ञासाओं को दूर कर दिया। तुरन्त ही सरमा को लेकर मैं विमलगिरि की ओर अग्रसर हुआ।

कौन कहता है बन्धन हेय है? बन्धन मधुर है। इसी माधुर्य का अवलम्बन लेकर मनुष्य उस अगम मानस लोक में पहुँचता है जहाँ रागात्मक हृदय वैराग्य के शान्तरस से अभिसिंचित होकर कृत्य-कृत्य हो जाता है।

समाहारात्मक टिप्पन

नवम् उच्छ्‌वास के साथ-साथ एक प्रकार से चन्दन मूर्त्ति कथानक का अन्त हो जाता है। कर्म की विचित्र गति-विधि, अतृप्त आकाङ्क्षाएँ, राग और द्वेष के सम्बन्ध किस प्रकार जन्म-जन्मान्तरों तक प्राणी का पीछा नही छोडते एवं किस प्रकार चन्दन मूर्त्ति का प्रशस्त मोह एवं रागात्मक प्रेम भी, जिसे साधारणतया हेय माना जाता है, मानव को उच्च शिखर पर ले जा सकता है इसी दार्शनिकता के साथ एक गम्भीर तात्पर्य से परिपूर्ण अपूर्व वन पडा है यह कथानक।

चन्दन मूर्त्ति के इस कथानक का मूल ऐसे तो जैन कथानकों में पाया जाता है। सिन्धु-सौवीर के राजा उद्रायन की दासी (देवदत्ता) एक साधक से दो गुलिकाएँ प्राप्त कर एक गुलिका से अनुपम रूप और दूसरे से पति रूप में चण्डप्रद्योत की कामना करती है। परिणामतः चण्डप्रद्योत देवदत्ता को हरण कर ले जाता है और साथ ही वह चन्दन

मूर्त्ति भी, जो कि उद्रायन ने एक देव से प्राप्त की थी। इस मूर्त्ति की सेवा-पूजा देवदत्ता ही करती थी। अतः मोहवश जाते समय वह इस चन्दन मूर्त्ति को चुरा लेती है एवं वहाँ दूसरी चन्दन मूर्त्ति स्थापित करवा देती है। किन्तु यह रहस्य उद्रायन को मालूम हो जाता है, अतः वह प्रद्योत को युद्ध में परास्त कर पुनः मूल चन्दन मूर्त्ति को ले आता है और देवदत्ता नकली चन्दन मूर्त्ति लेकर प्रद्योत के साथ चली जाती है। इस घटना के कुछ दिन पश्चात् ही सिन्धु-सौवीर की राजधानी वीतमय पट्टन में जो अग्निवर्षा हुई उसमें वह मूल प्रतिमा तो नष्ट हो गयी पर नकली चन्दन मूर्त्ति हेमचन्द्राचार्य के समय तक वर्त्तमान थी यह तो उनके लेख से स्पष्ट प्रमाणित होता है। पर वह कब कहाँ रही यह विवरण अज्ञात है। जातिस्मर ने उसी तथ्य को नौ उच्छ्वासों में व्यक्त किया है और जैन-साहित्य मे प्राप्त मूल कथानक मे देवदत्त और देवदत्ता की रोचक कथा को गुम्फित कर दर्शन का एक स्वस्थ और नवीन स्वरूप भी प्रतिपादित किया है।

मालाकार देवदत्त ने जो कि उद्रायन की दासी देवदत्ता से प्रेम करता था उसी के कहने पर नकली चन्दन मूर्त्ति बनवाई थी। देवदत्ता भी उसे स्नेह की दृष्टि से देखती थी किन्तु राजरानी-सा रूप प्राप्त कर उसकी महत्वाकाक्षा बढ गयी थी अतः उसने प्रद्योत की कामना की। वह तो प्रद्योत के साथ चली गयी किन्तु विरह-दग्ध देवदत्त अपनी अतृप्त आकाक्षा लिए वीतमय के उस भीषण अग्निकाण्ड में जल गया जिसमे कि वह मूल चन्दन मूर्त्ति भी जलकर विनष्ट हो गयी थी। मरने के पश्चात् देवदत्ता की आसक्ति के कारण (द्वितीय

उच्छ्वास) में देवदत्त तिर्यक योनि प्राप्त कर शुक रूप में जन्म लेता है। किन्तु मूर्त्ति निर्माण के पुण्य प्रभाव से, चारण मुनियो के वार्त्तालाप से उसे जाति स्मरण ज्ञान प्राप्त हो जाता है। फलतः वह देवदत्ता के महल में पहुँच जाता है। पूर्व जन्म में तो उसे मूर्ति से कोई प्रेम नही था किन्तु इस जन्म में उसे चन्दन मूर्त्ति की भक्ति प्राप्त हो जाती है। वह भी देवदत्ता की भाँति ही चन्दन मूर्त्ति को वन्दन नमस्कार करता था। अन्तिम समय में भी उसकी भावना चन्दन मूर्त्ति के पास जाने की हुई। यद्यपि वह चन्दन मूर्त्ति के सन्निकट जा न सका पर शुभ भावना में मरण प्राप्त कर मगध के उच्च ब्राह्मण कुल मे जन्म लेता है। (तृतीय उच्छ्वाम) में राजकीय भोग-विलास में व्यस्त देवदत्ता भी मरणोपरान्त एक सामान्य कुल में जन्म ग्रहण कर अल्पवय में ही विधवा हो जाती है। तदुपरान्त जीविका के लिए एक नाट्य-मण्डली में सम्मिलित होती है जहाँ उसकी भेंट नायक भट्ट (देवदत्त) से हो जाती है। इस प्रकार रदनिका (देवदत्ता) भट्ट के वहुत समीप तो आ जाती है किन्तु प्रद्योत के हाथो हुई अपनी मृत्यु एवं उसके साथ देवदत्ता का विलास उसके अन्तर्मन में अव भी कही छुपा था अतः उसी से प्रेरित होकर वह उसी रात्रि में वहाँ से भाग जाता है जिम रात्रि में रदनिका ने भट्ट से प्रेम निवेदन किया। वहुत दिनो पश्चात् वे फिर मिले भी पर वह रदनिका के साथ रह न सका। वस उसे एक जुआरी से प्राप्त चन्दन मूर्त्ति देकर वह मध्य एशिया की ओर चला गया। इस जन्म में उसकी मृत्यु हिमालय के उच्चशिखर से गिरकर होती है। मरते समय उसने रदनिका को स्मरण किया इसीलिए (चतुर्थ उच्छ्वास) में जव कि वह अमृताश्व के रूप में जन्म

लेता है पाञ्चाल राजपुत्र से चन्दन मूर्त्ति प्राप्त करते ही उसकी पूर्व स्मृति जागृत हो जाती है और वह रदनिका को पाने के लिए भारतवर्ष की यात्रा करता है। अन्त में 'अपाला' के रूप में उसे पाता भी है किन्तु अपाला का पति जो कि प्रद्योत का जीव था उसकी मनःस्थिति को भाँप कर क्रोधावेश में उसकी आँखें निकलवा देता है। इस जीवन में अपाला के अतिरिक्त वह दो और ऐसी नारियों के सम्पर्क में आया जो उससे प्रेम करती थी। उनमें एक थी मधुरा उसकी ममेरी बहन तथा दूसरी थी रोचनामद्र, जो कि भारतवर्ष की यात्रा के मध्य पहाडी अचल में मिली थी। इसी रोचनामद्र के भाई पुरुहुत ने उसे रथ के नीचे कुचल जाने से बचाया था। परवर्ती जीवन (पाँचवें उच्छ्वास) में वह पुनः अतीश के रूप में ब्राह्मण कुल में ही जन्म ग्रहण करता है और संयोगवश चिकित्साशास्त्र पढने के लिए उसी घर में पहुँचता है जहाँ अपाला रहती थी। किन्तु भयावह स्वप्नो से घबडाकर तक्षशिला की ओर प्रस्थान कर जाता है। वहीं महाक्षत्रप के घर उसकी पुत्री अनाहिता (देवदत्ता) से मिलता है। पूर्व जन्मों के सस्कारवश एक दूसरे को देखते ही उनके हृदय में एक दूसरे के प्रति स्नेह जागृत हो जाता है। पूर्व जन्म में आँखें निकल जाने के कारण उसके मन में वैद्यक शास्त्र पढ़ने की अभिरुचि हुई थी इसीलिए इस जन्म में वह पूर्ण मनोयोग से इस शास्त्र को पढ कर सेवा भाव में निमग्न हुआ। पर पूर्णता न दे पाया। क्योकि घटनाचक्र में फँसकर वह और अनाहिता एक दूसरे को समर्पित होते हुए चन्दन मूर्त्ति के साथ ही जलमग्न हो गए। इस जीवन में दोनो एक दूसरे के

अत्यन्त सन्निकट आ गए थे। किन्तु देवगति से उनके जीवन का ही अन्त हो जाता है। (षष्ठ उच्छ्वास) में देवदत्त श्रेष्ठी-पुत्र सुदास के रूप में जन्म लेता है। प्रद्योत भी इस जन्म में अर्कट के रूप में एवं देवदत्ता माया के रूप में जन्म ग्रहण करती है। इस जन्म में भी पूर्व जन्मो के संस्कारवश अर्कट उसका प्रतिद्वन्द्वी रहता है। माया भी अपने संस्कारवश दोनों से ही प्रेम करती है। पर सुदास को यह काम्य न हो सका। कारण प्रद्योत के प्रति उसके मन में घृणा जो थी अतः वह ताम्रलिप्त छोड कर सिंहल द्वीप की ओर चला गया। वहाँ पुनः चन्दन मूर्त्ति प्राप्त कर जव स्वदेश की ओर लौटने लगता है, तूफान में फॅस जाने के कारण उसकी नौका उलट जाती है और वह एक तख्ते के सहारे तैरता हुआ कलिंग के कंचनपुर में जा पहुँचता है। समुद्र तट पर ही शिवयशा (पूर्व जन्म की मधुरा) उसे अपने घर ले जाकर सेवा-शुश्रूषा कर पूर्व जन्म में अमृताश्व के प्रति जो प्रेम था उसे सार्थकता दी। पर इस जन्म में भी वह माया (देवदत्ता) को पा नही सका। (सप्तम् उच्छ्वास) में उसी कंचनपुर में देवदत्त विग्रहराजके रूप मे जन्म ग्रहण करता है। शिवयशा (मधुरा) कल्याणी देवी उसकी भाभी के रूप में जन्म लेती है। इस जन्म में भी वह देवदत्ता को श्राविका रूप में देखता है, आकृष्ट होता है, पाना चाहता है पर पा नही सकता। शुभचन्द्र उसका गुरु भाई था—वही रोचनामद्र का भाई

पुरुहूत जो कि उसे इस जन्म में भी बचाने जाता है। किन्तु विग्रहराज समुद्र में डूबकर अपना प्राणान्त कर देता है। (अष्टम् उच्छ्वास) में देवदत्त कवि जयत के रूप में एव देवदत्ता राजकन्या रूपश्री के रूप में जन्म ग्रहण करती है। अब देवदत्ता उसे पूर्णतः चाहती है किन्तु मिल नही पाती। कारण मालिनी (रोचना मद्र) का प्रेम इसमें बाधक बन जाता है। (नवम् उच्छ्वास) में यही मालिनी तपती बनती है किन्तु इस बार वह देवदत्ता के पक्ष में बाधक बनने में असमर्थ रहती है। देवदत्ता इस जन्ममें सरमा होती है। पूर्व जन्म के पति पंचकूल के राजकुमार से प्रेम न कर सकने के कारण इस जन्म में भी उसका पति (पचकूल का राजकुमार) विवाह-रात्रि में ही उसका परित्याग कर सन्यास लेकर कही चला जाता है। इस जन्म मे देवदत्ता देवदत्त के पूर्णतः सन्निकट आ जाती है। सरमा की सास वही वृद्धा है जो भद्र जीवन मे देवदत्त की माँ थी, जिसका हाथ झटक कर वह घर से चला गया था। अतः इस जीवन में भ्रमवश वह उसे अपना पुत्र समझकर उसी की गोद में अपने प्राण छोड़ती है और सरमा को उसे सौंप जाती है। तत्पश्चात् वे दोनों चन्दन मूर्त्ति के प्रभाववश सिद्धाचल (विमल गिरि) की यात्रा को प्रस्थान कर जाते है। इस प्रकार जातिस्मर ने जन्म-जन्म के जिन कथानको को विवृत किया वह सत्य की प्रतीति लेकर आते हैं। पर आज का बौद्धिक पाठक इसे सत्य माने या न माने, वह इसे कल्पना ही समझे, तो भी कहना होगा वह जातिस्मर की विलक्षण

कल्पना पर भी मुग्ध हुए बिना नही रह सकता। कारण इतिहास के साथ-साथ प्राचीन भारत की जो झलक इन कथानकों में मिलती है उसकी तुलना नही। प्रवाहशील सरस सुबोध भाषा, संवेदनशीलता और दर्शन के तह का स्पर्श करता कथानक मधुर रस को परिपाक करता हुआ उस उच्चता पर जा पहुँचता है जहाँ मानव मन रागात्मकता के साथ वैराग्य के शान्त रस से अभिसिंचित हो जाता है।

—अनुवादिका